उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१२ १९९३—मार्च अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

फोन। ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

ज्ञान एकाएक नहीं हो जाता, ठीक समय होने पर ही होता है। रोगी को तेज बुखार चढ़ा हो तो डाक्टर उस समय कुनैन नहीं देता। वह जानता है कि इस समय उससे काम नहीं होगा। बुखार उतर जाने पर कुनैन या दूसरी दवा का असर होता है। मनुष्य जब तक संसार के भोगों में डूबा रहता है तब तक उस पर धर्मोपदेश का कोई परिणाम नहीं होता। कुछ समय तक उसे विषयों का भोग कर लेने दो। जब उसकी भोगासक्ति की मात्रा कुछ कम होगी तभी उस पर उपदेश का परिणाम होगा। उसके पहले कितना भी उपदेश दो, सब व्यर्थ ही होगा।

(२)

एक आदमी बदन पर तेल मलकर नदी नहाने जा रहा था। जाते-जाते राह में उसने सुना कि अमुक व्यक्ति संन्यासी बननेवाला है, कुछ दिनों से उसके लिए वह तैयारी कर रहा है। सुनते ही उसके मन में यह बोध उत्पन्न हुआ कि संन्यासी होना ही सार वस्तु है और उसी क्षण, उसी हालत में वह संन्यासी बनने के लिए चल पड़ा, फिर घर नहीं लौटा। इसी का नाम है तीव्र वैराग्य।

(३)

स्त्री यदि अपने पति के प्रति एकनिष्ठ हो तो वह सती परलोक में भी अपने पति से जा मिलती है। इसी प्रकार अपने इष्टदेवता पर एकनिष्ठ भक्ति हो तो ईश्वरदर्शन होता है।

(४)

भागवत (शास्त्र), भक्त, भगवान्—तीनों एक ही हैं।

प्रातः स्मरणम् परब्रह्मणः

—श्रीमत् शंकराचार्य

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिमवैति नित्यं
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूत संघः ॥१॥

प्रातर्भजामि मनसा वचसामगम्यं
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेतिनेति वचनैर्निगमा अवोचं—
स्तं देव देवमजमच्युतमाहुरग्रयम् ॥२॥

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ
रज्ज्वां भुजंगम इव प्रतिभासितं वै ॥३॥

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं लोकत्रय विभूषणम् ।
प्रात.काले पठेद्यस्तु स गच्छेत्परमं पदम् ॥४॥

भावार्थ—मैं प्रातःकाल हृदय में स्फुरित होते हुए आत्मतत्व का स्मरण करता हूँ, जो सत्, चित् और आनन्दरूप हैं, परमहंसों का प्राप्य स्थान है और जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है, जो स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्था को नित्य जानता है, वह स्फुरणारहित ब्रह्म ही मैं हूँ, पंचभूतों का संघात (शरीर) मैं नहीं हूँ ॥१॥ जो मन और वाणी से अगम्य है, जिसकी कृपा से समस्त वाणी भास रही है, जिसका शास्त्र नेति-नेति' कहकर निरुपण करते हैं, जिस अजन्मा देवदेवेश्वर अच्युत को आदि पुरुष कहते हैं, मैं उसका प्रातःकाल भजन करता हूँ ॥२॥ जिस सर्वस्वरूप परमेश्वर में यह समस्त संसार रज्जु में सर्प के समान प्रतिभासित हो रहा है, उस अज्ञानातीत, दिव्य तेजोमय, पूर्ण सनातन पुरुषोत्तम को प्रातःकाल नमस्कार करता हूँ ॥३॥ ये तीनों श्लोक तीनों लोकों के भूषण हैं, इन्हें जो कोई प्रातःकाल के समय पढ़ता है, उसे परमपद की प्राप्ति होती है ॥४॥

सम्पादकीय सम्बोधन

भागो नहीं, बदलो

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक कालेज में छात्र संघ का चुनाव हो रहा था। उस कालेज के एक प्रोफेसर की लड़की ने जो उसी कालेज की छात्रा थी, किसी एक उम्मीदवार छात्र के पक्ष में अपना वोट दिया। वह छात्र एक वोट से ही विजयी हुआ। पराजित छात्र ने उसी माग को उस छात्रा के प्रोफेसर पिता पर छुरों से आक्रमण कर दिया। उसका तर्क यह था कि वह जिस एक वोट से हारा वह उसी प्रोफेसर की लड़की का वोट था। अपना क्रोध उसने उस प्रोफेसर पर छुरों का आक्रमण कर शान्त किया।

एक प्रोफेसर के क्लास में कई बाहरी युवक आ घुसे थे। प्रोफेसर के कहने पर भी जब वे युवक वर्ग से नहीं निकले तब प्रोफेसर ने ही वर्ग छोड़ दिया। और फिर कुछ छात्रों में से कुछ ने आकर उस प्रोफेसर पर डंडे चला दिये।

एक बैंक में किसी दूकान का कर्मचारी कुछ रुपये जमा करने गया था। बैंक के फाटक पर ही एक युवक ने उस पर गोली चला दी। और वह व्यक्ति अस्पताल में मर गया।

एक प्रोफेसर विश्वविद्यालय परीक्षा के केन्द्रीय मूल्यांकन कक्ष में अपने प्रिय छात्रों का अंक बढ़वाने की प्रक्रिया में पकड़ा गया।

किसी अदना-सी बात पर दो सम्प्रदायों या दो जातियों में भयंकर मार-काट हुई।

दुर्गा पूजा के लिए सड़क रोक कर आती-जाती गाड़ियों के मालिकों से चन्दा वसूलने के क्रम में एक पुलिस की गाड़ी पर सवार एक सिपाही की, एक गाँव के कुछ युवकों ने, चन्दा नहीं देने के कारण, कुदाल चलाकर हत्या कर दी।

किसी ट्रेन या बस के मुसाफिरों को कुछ आतंकवादियों ने बंदूक या रिवाल्वर का भय दिखाकर लूट लिया।

दहेज नहीं मिलने के कारण किसी युवक ने अपनी गर्भवती पत्नी को जलाकर मार दिया।

ऐसी घटनाएँ रोज ही देखने-सुनने को मिलती है। किसी भी दिन का अखबार उलटने पर ऐसी खबरें भरी-पड़ी मिल जाती हैं। और शर्म से हमारा माथा झुक जाता है। यह मानने में लाज लगने लगती है कि ऐसा कृत्य करनेवाले हमारे ही देश के—उस देश के जिसकी एक लम्बी धार्मिक-आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्परा रही है—नागरिक है।

आखिर क्या हो गया है हमको ? क्यों हम इतने उद्‌भ्रांत, दिशा हीन, पथ भ्रष्ट और विक्षिप्त हो गये हैं ? क्यों हम इतने तनाव, उत्तेजना और आक्रोश में जीने को अभिशप्त हो गये हैं ? राम की सहिष्णुता, कृष्ण का प्रेम, बुद्ध की करुणा, कबीर-नानक की शीलवंतता, रामकृष्ण की अनासक्ति,

विवेकानन्द का कठोर त्याग और गांधी की अहिंसा हमारी नसों में बहती हुई रक्त-धारा के ताप से क्यों वाष्प बन कर उड़ गयी हैं ? क्या हम उनकी संतान कहाने के योग्य भी रह गये हैं ? और अगर नहीं, तो क्यों ?

मुझे लगता है कि हमारी सारी विकृतियों, सारी अभद्रताओं, सारी दुरितियों और सारी बीमारियों के मूल में जो सबसे बड़ा कारण है. वह यह कि आज के माहौल में हम सब भाग रहे हैं, बड़ी तेजी से भाग रहे हैं, स्वयं अपने से, अपने 'स्व' से, अपने यथार्थ स्वरूप से, अपने परम चिन्मय आनन्दघनात्मक मूल रूप से। और यह भागने की प्रक्रिया जब तक चलती रहेगी, अपने स्वरूप से मुँह फेरने की स्थिति जबतक बनी रहेगी, हम वह सब करते रहेंगे, बल्कि और तेजी से करते रहेंगे, जो आज हम कर रहे हैं।

'स्व' के 'सुधा-सरोवर से भागकर हम अहं के अग्निकुण्ड में गिरते हैं।

'आत्म' के आलोक से भागकर हम घृणा, क्रोध और हिंसा के अंधकार में प्रवेश करते हैं।

अपने मूल स्वरूप से भागकर हम दुष्कर्मों के पंक में आकंठ धँस जाते हैं।

अपने सत्य से मुँह फेरकर हम अनेकानेक कुकृत्यों के—एक भयंकर असत्य के जाल के—आलिंगन में आबद्ध हो जाते हैं।

इतिहास साक्षी है कि जिस किसी ने अपने मूल स्वरूप से भागने का प्रयास किया उसी ने अपने आत्मघाती कृतियों का पहाड़ सिरज लिया।

रावण ने अपने मूल स्वरूप का त्याग कर दिया था। वह अपने यथार्थ से भाग खड़ा हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वह ऋषियों-मुनियों के यज्ञों का ध्वंस करने लगा। उनके रक्त का शोषण करने लगा। पर-नारी का अपहरण करने लगा। और अन्त में वह राम के बाण का शिकार हुआ।

पंचवटी में सीता के सामने लक्ष्मण ने एक रेखा खींच दी थी। उस रेखा का अतिक्रमण नहीं करने का अनुनय लक्ष्मण ने सीता से किया था। यह लक्ष्मण-रेखा 'स्व' की, आत्म-मर्यादा की, आत्म-स्वरूप की ही मानो एक सीमा रेखा थी। उसका अतिक्रमण करने से, उस रेखा को लाँघने से, उस सीमा से भागने से संकट का होना स्वाभाविक था। सीता लक्ष्मण-रेखा को लांघ गयी और स्वभावतः रावण के द्वारा उसका हरण हो गया।

कुरुक्षेत्र के धर्म-युद्ध में अर्जुन अपने स्वरूप से भागने लगा था। उसने युद्ध न करने के अनेक पांडित्यपूर्ण तर्क दिये थे। लेकिन कृष्ण थे जो उसे बार-बार समझा रहे थे—'अर्जुन, अपने स्वधर्म को पहचानो, स्वधर्म चाहे कैसा भी क्यों न हो, उससे भागो मत। पर धर्म का अवलम्बन न करो।' लेकिन अर्जुन जल्दी कृष्ण के सत्परामर्श को मानने को तैयार नहीं था। अपने स्वरूप से भागनेवाला हर प्राणी विवेक की वाणी को सहज ही स्वीकार नहीं करता। अर्जुन भी नहीं कर रहा था। लेकिन लेकिन जब कृष्ण ने उसे अपने रूप की पहचान करायी तो वह संभल गया। वह भाग रहा था। लेकिन उसने भागना छोड़ कर अपने का बदल लिया। वह बोल उठा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (१८।७३)

'हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह समाप्त हो गया है. अब मुझे (अपने मूल स्वरूप की) स्मृति (पहचान) हो गयी है। इसलिए; मैं सन्देह रहित हो गया हूं, निःसंशय हो गया हूं और अब वही करूंगा जो आपने कहा है। यह बदले हुए अर्जुन की वाणी है। गीता के प्रथम अध्याय का अर्जुन अपने से भागता हुआ अर्जुन है और गीता के अट्ठारहवें अध्याय का अर्जुन ठहरा हुआ (स्थितोऽस्मि) यानो बदला हुआ अर्जुन है। अर्जुन अब ठहरा हुआ इसलिए है कि उसे अपने आत्मस्वरूप की पहचान हो गयी है। वह जान गया है कि उसका मूल रूप अविनाशी है, अनश्वर है, अतः आनन्दमय है, शोक-रहित है। इसलिए वह अब कोई भी कर्म केवल कर्म की दृष्टि से करनेवाला एक निमित्त मात्र है। जो निमित्त है, उस पर कर्म का फल नही आता। कलम से जो कुछ लिखा जायगा उसका फल कलम पर नहीं आयेगा, लेखक पर आयेगा। कलम तो निमित्त है। लेखक उससे गीता का श्लोक लिखा ले या अपशब्दों की सूची तैयार करा ले। कलम को क्या ! अर्जुन इस रहस्य को समझ गया हैं: इसलिए वह बदल गया है।

जब हम बदल जाते हैं, यानो स्थित हो जाते हैं यानो अपने स्वरूप में होते हैं, 'स्व' में स्थिर हो जाते हैं, 'स्व' में स्थिर हो जाते हैं तब हम कोई दुष्कर्म नहीं कर सकते। हमारी हर सांस तब भद्रता का संगीत हो जाती है, हमारी हर क्रिया तब कल्याण की मंदाकिनी बन जाती है, हमारा हर डेग लोक-मंगल की दिशा में उठकर एक कस्तूरी गंध बिखेर देता है। 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।' जो अपनी आत्मा में रमण करते हैं वे विषयों की (दुष्कृतियों की) मृगतृष्णा में भ्रमण नहीं करते। और जो लोक-मंगल के लिए ही आचरण करते हैं, वे स्वयं कभी दुर्गति में नही पड़ते। 'न हि कल्याण कृत कश्चित् दुर्गति तात गच्छति।' कल्याण कर्मियों की कभी दुर्गति नहीं होती।

गौतम जब एक बूढ़े, एक रोगी और एक मृतक को देखकर अधीर हो गये थे, विचलित हो गये थे, तब मानो वे सत्य से भाग रहे थे। लेकिन जब इनसे मुक्ति पाने के लिए वे अपनी परमरूपवती पत्नी, सुकुमार पुत्र और विशाल राज्य-पाट का परित्याग कर चल पड़े तब मानो उन्होंने अपने में बदलाव की प्रक्रिया शुरू कर दी। और जब वे बुद्ध हो गये तब वे बदल गये। बुद्ध ठहरी हुई बुद्धि का नाम है। वे 'स्थितोऽस्मि' की अवस्था में आ गये थे। उन्हें 'स्व' की पहचान हो गयी थी। इसलिए जब दस्युराज अंगुलिमाल ने घने जंगल में एकांकी यात्रा करते हुए बुद्ध को गरज कर कहा—ठहर जाओ, नहीं तो मैं हत्या कर दूंगा तुम्हारी' तब बुद्ध ने क्या कहा ?—'अंगुलिमाल ! मैं तो कब का ठहरा हुआ हूं। ठहरना तो तुम्हें है।' मैं तो कब का ठहरा हुआ हूं अर्थात् मैं तो कब का बदला हुआ हूं; ठहरना तो तुम्हें है अर्थात् बदलना तो तुम्हें है। कहते हैं, बदले हुए, ठहरे हुये बुद्ध की वाणी ने अंगुलिमाल पर जादू का कार्य किया और उसने अपने अस्त्र-शस्त्र बुद्ध के चरणों पर डाल दिये। वह उनका अनुगत हो गया। अंगुलिमाल जब तक लोगों की हत्या में लगा रहा तब तक वह असल में भागता रहा, दौड़ता रहा। भागता रहा अपने से, दौड़ता रहा अपनी ओर पीठ देकर। जब बुद्ध ने उसे कहा था—'ठहरना तुम्हें है' तब उनका इशारा इसी बात की ओर था कि अपने स्वरूप को पहचानो, अपने को रू-ब-रू, सामने-सामने होकर देखो, बुद्ध की शरण में आया हुआ अंगुलिमाल बदला हुआ अंगुलिमाल था।

हमें भी अपने को बदलना होगा। कब तक आखिर भागते रहेंगे हम अपने से ? प्रोफेसरों पर कातिलाना हमला करनेवाले छात्र, युवती का सामूहिक बलात्कार करने वाले पुलिसकर्मी, ट्रेन और बस के यात्रियों को लूटनेवाले दिग्भ्रांत युवक, रास्ता रोककर चंदा वसूलनेवाले नागरिक, दहेज की

कमी के कारण नव वधू को जिन्दा जलाने वाले लोग—ये सब-के-सब भाग ही तो रहे हैं, अपने स्वरूप से, अपने यथार्थ से, अपने सत्य से।

क्यों हम भाग रहे हैं अपने से, अपने स्वरूप से? गहराई में जाने से लगता है कि इसके मूल में है कामकांचन के प्रति हमारी तीव्र आसक्ति। श्रीरामकृष्ण कामकांचन से बचने का उपदेश प्रायः ही अपने शिष्यों को देते रहते थे। वे कहा करते थे—'कामिनी-कांचन ही मनुष्य को संसार में डुबो रखते हैं। यदि जीव के मन में से काम-कांचन की आसक्ति मिट गयी तो फिर उसके लिए शेष ही क्या रह गया? केवल ब्रह्मानन्द!' श्रीरामकृष्ण के उपर्युक्त उपदेश को अमल में लाने की अपने जीवन में उतारने की आज जितनी जरूरत है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी।

ऐसा नहीं है कि श्रीरामकृष्ण गृहस्थों को पत्नी से ही अलग-थलग हो जाने या उससे घृणा करने को कहते थे अथवा जीवन यापन के लिए भी अर्थ को व्यर्थता की घोषणा करते थे। नहीं। वे तो अपनी पत्नी को अशेष अनुराग देने और शुद्ध माध्यम से अर्थोपार्जन कर जीवन यापन करने की प्रेरणा ही देते थे। लेकिन हाँ, काम और कांचन को जीवन का सर्वस्व, जीवन का मूल दर्शन मानने की मनाही वे अवश्य करते थे। आज हमारे देश और समाज में हिंसा, रक्तपात, लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, कदाचार, पापाचार और दुराचार की जितनी घटनाएँ घटित हो रही हैं उनके मूल में काम-कांचन का जीवन-दर्शन ही तो काम कर रहा है! सच पूछिए तो कांचन की वर्चस्वता हो गयी है। क्योंकि कांचन से काम की पूर्ति आसानी से आज होने लगी है। हम कल की अपेक्षा आज और आज की अपेक्षा अभी ही माला माल हो जाना चाहते हैं—चाहे जिस तरीके से हो, येन-केन-प्रकारेण।

अर्थ की महत्ता ने नैतिकता की व्यर्थता घोषित कर दी है। अक्सर लूटपाट करनेवाले गरीब नहीं, बल्कि धनिकों के पुत्र हुआ करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? क्योंकि उन्हें जितने रुपये मिलते हैं उनसे अधिक, और अधिक वे चाहते हैं। बड़ी दिलचस्प बात यह है कि ऐसे युवकों के पास जो प्रेम-पत्र उपलब्ध होते हैं उनमें उनकी प्रेमिकाओं की ओर से सोने-हीरों के आभूषणों की माँग रहती है और प्राप्त आभूषणों के लिए धन्यवाद ज्ञापित हुआ रहता है। अर्थात् मूल में है कंचन। कंचन के दर्शन ने, रुपयों की दुर्बलता ने हमारी मति हर ली है, हमारी गति हर ली है। अर्थ की आसक्ति हमें स्थिर नहीं होने देती। रुपयों का लोभ हमें अपने को बदलने नहीं देता; अपने निज-स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होने देता। कांचन का कोलाहल हमें ऊँची चेतना से जुड़ने नहीं देता।

पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी
मेरे पग पीछे जाते हैं ऐसी मेरी गति हारी
तुमने सदा छिपाता आया मैं जीवन की कमजोरी
तुम्हें नहीं संचित कर पायी मेरी चंचलता भारी
सदा बटोर फिरा हृदय में मैं प्रमाद की अस्थिरता
मेरे भीतर सदा रहा संदेहों का बादल घिरता
डसती रहीं मुझे रह-रह अपनी असफलताएँ सारी
पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी।

जब तक हम अपने को बदलते नहीं हमारी हर यात्रा उल्टी हो जाती है। हमारी हर गति हमें पीछे की ओर धकेल देती है। जब तक हम अपने को बदलते नहीं, हम सरल नहीं हो पाते। हमारी कुटिलता हमें अपनी दुर्बलता, अपनी कमजोरी भी प्रकट नहीं करने देती। समाज में हम अपने को ठीक-ठाक दिखाना चाहते हैं। भीतर से हम बीमार रहते हैं। बलात्कारी और दुराचारी सदाचारी के रूप में अपने को दर्शित करना चाहता है। वह कामकांचन के रोग से ग्रस्त होकर दुनिया भर के कुकर्म करता फिरता है, मदांध और अविवेकपूर्ण आचरण करता फिरता है और चाहता है कि समाज में उसकी प्रतिष्ठा भी बरकरार रहे। यह दुहरापन आज और भी हमें डंसने लगा है। हमारा विश्वास खंडित हो गया है, कामनाएँ ज्वार उठा रहीं हैं, लालसाएँ, आग की लपटें बुन रही हैं, स्नेह और समर्पण श्रद्धा और भक्ति हमसे नाता तोड़ बैठी हैं। हम एक गहरे अंधेरे में रोशनी की एक भ्रामक कल्पना कर जीने को अभिशप्त हो गये हैं। कैसी विवशता है, कैसी विडम्बना है?

डिगती रही कामना मेरी, रह न सका विश्वास अचल
तुम तक पहुँच नहीं पाता है मेरे प्राणों का संबल
तुमने अपना स्नेह भरा पर जल न सका मेरा अंतर
कभी समर्पण के दीपक में ज्योति नहीं जागी पल पर
कभी न सपने में भी मुझसे छूटी मेरी अँधियारी
पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी।

आखिर कामिनी और कांचन के प्रति ऐसी और इतनी आसक्ति आज हममें क्यों उभर आयी है? ऐसा क्यों है कि हम काम-कांचन की पूर्ति के लिए आज तमाम मूल्यों तमाम नैतिक आदर्शों और तमाम आचार-संहिताओं का होलिका दहन करने लगे हैं? बात यह है कि हम अपने मूल से कटते जा रहे हैं— बड़ी तेजी से। अपनी ऊंची धार्मिक आध्यात्मिक विरासत से बिना रस लिये हुए हम अपने जीवन-तरु को विकसित करना चाहने लगे हैं। यह संभव नहीं है। हम अपनी भूमि से कट कर बहुत दिनों तक चल नहीं सकते, जी नहीं सकते। ताजा कटा हुआ पेड़ भी दो-चार दिनों तक हरा-भरा दीखता है। पर यह हरियाली एक भयंकर शुष्कता अपने भीतर छिपाए है! हम अपनी परम्परा से कटकर कुछ दिनों तक चमक सकते हैं। लेकिन यह चमक हमारे संपूर्ण रूप से सूख जाने का घोषणा-पत्र ही तो है! नहीं, हमें काम-कांचन की अत्यासक्ति से बचना होगा। अपने मूल रूप को पहचानना होगा, अपने से भागने की आत्मघाती साजिश से बचकर अपने को बदलने के लिए कमर कस कर आबद्ध होना ही होगा।

कैसे बदल सकते हैं हम अपने को? एक ही उपाय है उसका और वह है स्वविवेक का आदर करना। अपने विवेक का आदर कर हम अपना रूपान्तरण कर सकते हैं। क्या विवेक किसी पर कातिलाना हमला करने, किसी के साथ बलात्कार करने, किसी को लूटने, किसी की हत्या करने की इजाजत देता है? अगर नहीं, तो यह काम हम त्रिकाल में भी क्यों करें? क्या विवेक हमें स्वधर्म का त्याग करने की आज्ञा देता है? अगर नहीं, तो हम ऐसा क्यों करें? और स्वधर्म है क्या? नीचे से ऊँचे की ओर निम्न से ऊर्ध्व की ओर उठने का प्रयास ही तो स्वधर्म है? स्वामी विवेकानन्द ने बड़े ओजस्वी और मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा है—"निम्न को त्यागो, जिससे कि तुमको उच्च प्राप्त हो सके! समाज का आधार क्या है? नैतिकता, सदाचार, नियम। त्यागो! अपने पड़ोसी की सम्पत्ति हथियाने की,

अपने पड़ोसी पर चढ़ बैठने की सारी लालसा को, दुर्बलों को यातना देने के सारे सुख को, झूठ बोलकर दूसरों को ठगने के सारे सुखों को त्यागो। क्या नैतिकता समाज का आधार नहीं है? विवाह व्यभि-चार-त्याग के अतिरिक्त और क्या है? बर्बर विवाह नहीं करते। मनुष्य विवाह करता है, क्योंकि वह त्यागता है। यह क्रम इसी प्रकार चलता जाता है। त्यागो! त्यागो! बलि दो! छोड़ दो! शून्य के लिए नहीं। न कुछ के लिए नहीं। वरन् ऊंचा उठने के लिए। पर यह कौन कर सकता है? तुम यह उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि तुम ऊंचे नहीं उठ जाते। तुम बातें कर सकते हो। तुम संघर्ष कर सकते हो। तुम बहुत-सी बातें करने का प्रयत्न कर सकते हो। पर जब तुम ऊंचे उठ जाते हो, तो वैराग्य स्वयं आ जाता है। तब न्यूनतर स्वयं छूट जाता है।"[1]

हम अनेक दुष्कर्म इसलिए भी कर बैठते है कि हम यह मानते हैं कि शरीर सत्य और नित्य है। फिर इस शरीर के सुख के लिए कुछ भी क्यों न करें। मगर विवेक से यही सिद्ध होता है कि न तो शरीर नित्य है और न हम शरीर हैं। "महान् पुरुषों की मृत्यु हुई है। दुर्बलों की मृत्यु हुई है। देवताओं की मृत्यु हुई। मृत्यु—सब ओर मृत्यु। यह संसार अनन्त अतीत का कब्रिस्तान है, फिर भी हम इस (शरीर) से चिपटे रहते हैं : "मैं कभी मरनेवाला नहीं हूँ"। हम निश्चित रूप से जानते हैं (कि शरीर को मरना होगा) और फिर भी इससे चिपटे हुए हैं। पर इसमें भी एक अर्थ है (क्योंकि एक अर्थ में हम नहीं मरते)। गलती यह है कि हम शरीर से चिपटते हैं, जब कि जो आत्मा है, वह वास्तव में अमर है।"[2]

अब अगर आत्मा अमर है तो उस पर विचार होना चाहिए। उस पर ध्यान करना चाहिए और आत्मा की अमरता का अनुभव कर लेना चाहिए। और जब आत्मा की अमरता का अनुभव हो जायगा तब क्या हम शरीर और उसके सुखों के पीछे दौड़ते फिरेंगे और उन सुखों के लिए अनेक कर्म-कुकर्म करते रहेंगे? हमें सोचना चाहिए कि अधिक ऊँचा क्या है, उन वस्तुओं के पीछे दौड़ना जो नाशवान हैं अथवा ... उसकी पूजा करना, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता? क्या अधिक व्यावहारिक है, वस्तुओं को प्राप्त करने में जीवन की सारी शक्तियों का व्यय करना, जिनको प्राप्त करने से पहले ही मृत्यु आ जाती है, और तुमको उन सबको छोड़ देना होता है?—उस महान् (राजा) की भाँति, जिसने सब जीत लिया था। जब मौत आयी, तो उसने कहा, "सब वस्तुओं के कलसों को मेरे सामने फैलाओ।" उसने कहा, "उस बड़े हीरे को मुझे दो।" और उसने उसे अपनी छाती पर रखा और रो पड़ा। इस प्रकार वह रोते हुए मरा, वैसे ही जैसे कुत्ता मरता है।"[3]

स्वभावतः हमें आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने के लिए तत्पर हो जाना होगा। "आत्मा की अनुभूति आत्मा के रूप में करना व्यावहारिक धर्म है अन्य सब बातें वहीं तक ठीक हैं, जहाँ तक वे इस महान् लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। इस (अनुभूति) की प्राप्ति की जाती हैं त्याग से, ध्यान से—सब इन्द्रिय सुखों के त्याग से, उन ग्रंथियों और शृंखलाओं को काटकर जो हमें भौतिकता से बाँधती है। "मैं भौतिक जीवन नहीं चाहता, वरन् कुछ ऊँची वस्तु चाहता हूँ। यह त्याग है। तो ध्यान की शक्ति से उस अनिष्ट का निराकरण करो, जो हो चुका है।"[4]

---

१. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० १७६
२. वही : वही : पृ० वही
३. वही : वही : पृ० १७९
४. वही : वही : पृ० वही

मुझे लगता है कि आज का मनुष्य, विशेषकर युवक यदि प्रति दिन मात्र दस मिनट भी ध्यान पर बैठने की चेष्टा करे तो वह उन तमाम कुंठाओं, तनावों और कुभावों से बच सकता है जो उन्हें नाना प्रकार के दुष्कर्म करने को प्रेरित करते हैं।

यह सच है कि संसार में दुख है। और दुःख भी मनुष्य को अविवेकितापूर्ण कार्य करने को कभी-कभी बाध्य कर देता है। लेकिन यह भी सच है कि जब तक संसार है तब तक सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, भद्र-अभद्र, शिव-अशिव आदि भी रहेंगे ही। हमें इनके बीच समरस रहने की कला या विज्ञान जानना ही होगा। हमें सुख और दुःख के बीच एक ही सत्ता, एक ही शक्ति को कार्यरत देखने की दृष्टि बनानी होगी। अतः स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे—'निर्भीक बनो, तथ्यों का सामना तथ्यों की भाँति करो। अशुभ के भय से विश्व में इधर-उधर न भागो।—सुख आयेगा—बहुत ठीक; कौन रोकता है? दुःख आयेगा : उसका भी स्वागत है।—वीर होने का अर्थ है, माँ (परम सत्ता) में विश्वास। यह माँ है, जिसकी छाया जीवन और मृत्यु है। सब सुखों का सुख वही है। सब दुःखों में दुःख वही है। यदि जीवन आता है, तो वह माँ है, यदि मृत्यु आती है तो वह माँ है। यदि स्वर्ग आता है, तो वहाँ वही है, यदि नरक आता है, तो वहाँ माँ है; गोता लगाओ। हम में विश्वास नहीं है, हममें यह देखने का धैर्य नहीं है।"[५] और जब तक यह विश्वास, यह धैर्य नहीं आता हममें, तब तक हम अपने से भागते रहेंगे। और जब तक हम अपने से भागते रहेंगे, तब तक हम बदलेंगे नहीं। और जब तक हम अपने आप को बदलेंगे नहीं तब तक हम सुख दुःख के झूलों पर झूलते हुए आत्मघाती, समाज-विरोधी अनैतिक और अशुभ-अभद्र आचरण करते ही रहेंगे। इसी से मैं आप सब से प्रत्येक व्यक्ति से कहता हूँ—भागो नहीं, बदलो।

मैं जानता हूँ मित्रो, आपमें से कुछ कहेंगे—"न राधा को नौ मन घी होगा, न राधा नाचेगी। न लोग त्याग, विवेक और श्रद्धा-विश्वास में प्रविष्ट करेंगे, न काम कांचन से विरत होंगे और न समाज से दुष्कृत्यों का अंत होगा। फिर इस लम्बे प्रलाप का क्या अर्थ?" नहीं, ऐसा नहीं है। हमें मनुष्य की अच्छाई में, उसको ऊपर उठने की लालसा और ललक में विश्वास रखना चाहिए। वह अपनी लम्बी और ऊंची यात्रा में अग्रसर ही है। यह भिन्न बात है कि कभी वह फिसल जाता है, कभी गिर-लुढ़क जाता है। मगर फिर वही देह झाड़कर उठ खड़ा भी होता है उच्चतम की यात्रा की ओर डेग उठाने के लिए। तब तक हमें अलख जगाये रखना ही होगा -

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम गाता चल
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसता चल।

भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी महाराज से मेरी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हमें अपने सत्यस्वरूप से भागने की प्रवृत्ति से हटाकर हमें अपने को बदलने की ओर उन्मुख करें ताकि हम परम शान्ति और आनन्द का समाज गढ़ सकें। जय श्रीरामकृष्ण।

---

५. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० २०८-९

आत्मचैतन्य का जागरण

श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज
परम उपाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन

[३ जुलाई १९८०, कृष्णनगर रामकृष्ण आश्रम में प्रदत्त भाषण बंगला पत्रिका उद्बोधन के जनवरी, १९९२ अंक से साभार अनुदित अनुवादक : डॉ० केदारनाथ लाभ]

धर्म की मूल बात है हमलोगों में अन्तर्निहित आत्म-चैतन्य का जागरण। 'कल्पतरु दिवस' को श्रीरामकृष्ण ने आर्शीवाद दिया—"तुमलोगों को चैतन्य हो।" स्वामी विवेकानन्द ने आजीवन कहा—'प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्निहित ब्रह्म जागे।' किसी नये धर्म का प्रचार अथवा नये सम्प्रदाय की सृष्टि करने के लिए श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द नहीं आये थे। हमलोगों के भीतर के चैतन्य को जाग्रत करने के लिए ही उनलोगों का अविर्भाव हुआ था।

अपने हृदय में भगवान् की उपलब्धि—आत्मचैतन्य का जागरण या आध्यात्मिक विकास सभी धर्मों का मूल उद्देश्य है। किन्तु इसके बावजूद सभी धर्मों में आहार-विहार के सम्बन्ध में विधि-निषेध का ही प्रसार है। रामकृष्ण-विवेकानन्द ने इन सब विषयों पर विशेष कुछ नहीं कहा। एक शब्द में शुद्ध-सत्व जीवन-यापन की बात ही उन दोनों ने बार-बार कही है।

शुद्धसत्व जीवन-यापन करते करते हृदय में क्रमशः आध्यात्मिकता का विकास होगा। विकास का अर्थ यह है कि शक्ति मेरे भीतर ही है, किन्तु उस पर एक आवरण पड़ा हुआ है, वह आवृत हो गयी है। उसी शक्ति को धीरे-धीरे विकसित करना होगा, प्रकाशित करना होगा। हमलोग देखते हैं कि एक शिशु के जीवन में धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। पशु-पक्षियों को शारीरिक व्यक्तित्व है किन्तु आत्मिक व्यक्तित्व नहीं है। नवजात शिशु की भी वैसी ही स्थिति है। एक-दो वर्षों की उम्र होने पर उसका आत्मिक विकास होने लगता है। इस आत्मिक विकास का प्राथमिक अर्थ है—'अहं' ज्ञान या 'मैं' पन का बोध। छोटा शिशु पहले बोलता है—"यह चाहिए, वह चाहिए।' किन्तु कुछ दिनों के बाद वह बोलना शुरू करता है—'मैं चाहता हूँ, मुझे दो।' इस 'मैं'पन का बोध ही आत्मिक व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व के जागरण के साथ-साथ ही उसके भीतर एक स्वतंत्र शक्ति जाग्रत होती है। आध्यात्मिक अहं बोध इसी की चरम सीमा है। मनुष्य का क्षुद्र 'मैं' कितना विशाल और कितना महान हो सकता है, इस बात को एकमात्र भारत वर्ष ने ही विश्व को सुनाया है। महापुरुषों की परम्परा से अथवा वेद-उपनिषद् आदि में इस 'मैं' या इस अन्तर्निहित चैतन्य की जो बात सुनी जाती है, उस चैतन्य का जागरण ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है, इस तथ्य का स्मरण कराने के लिए ही इस युग में श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी अवतरित हुए थे। इस क्षुद्र लघु 'मैं' को—उन लोगों की भाषा में 'कच्चा मैं' को—'पक्का मैं' करना होगा।

स्वामीजी कहते हैं, हमलोगों के भीतर अनन्त शक्ति है। शारीरिक और मानसिक शक्ति—बुद्धि-मेधा-स्मृति-धृति—ये सब उसी शक्ति के विभिन्न प्रकाश हैं। आधार और प्रयास के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति में उस शक्ति का भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रकाश है। किन्तु समस्त शक्तियों का केन्द्र है आत्म-शक्ति। इस आत्म-शक्ति या आत्म चैतन्य के नहीं रहने पर कोई भी शक्ति अन्त तक फलदायक नहीं होती। अतएव इस आत्म-शक्ति को विकसित करना होगा। उसके विकास के लिए अध्यात्मविद्या की आवश्यकता है। इस अध्यात्म

विद्या का अनुशीलन ही धर्म विज्ञान है। छुआछूत, आचार-विचार, विधि-निषेध—ये सब धर्म नहीं हैं। उपनिषद् में विद्या के दो प्रकार हैं। वहाँ कहा गया है—"द्वे विद्ये वेदितव्ये।" एक है परा विद्या और दूसरी है अपरा विद्या। अपरा विद्या सांसारिक कल्याण—ऐहिक सुख- समृद्धि के लिए है। उसके प्रयोजन को ऋषियों ने नकारा नहीं। किन्तु परा या श्रेष्ठ विद्या है—"यया यत् अक्षरमधिगम्यते", जिसके द्वारा इस अक्षर अर्थात् अविनाशी पुरुष को जाना जाता है। 'अक्षर' हैं वही विभुचैतन्य— जो अणु रूप में प्रत्येक जीव के शरीर में विराजित हैं। उनके स्वरूप को जानने के लिए ही परा विद्या का प्रयोजन है, उनके स्वरुप का ज्ञान ही धर्म का चूड़ान्त लक्ष्य है।

स्वामी विवेकानन्द के क्षेत्र में हमलोग देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण के निकट आने से पहले वे अपरा विद्या में पारंगत हो गये थे, किन्तु इससे उनका हृदय तृप्त नहीं हुआ। इसके बाद श्रीरामकृष्ण के पदप्रान्त में पाँच वर्षों तक उन्होंने परा विद्या की साधना की। किन्तु उस साधना में सफल होकर उन्होंने अपरा विद्या के महत्व को कम नहीं किया। उन्होंने दोनों साधनाओं के माध्यम से उपनिषद् की उस वाणी के सत्य का ही प्रचार किया—"द्वे विद्ये वेदितव्ये।" प्रकृति विज्ञान् या भौतिक विज्ञान तथा अध्यात्म विज्ञान—मनुष्य के समग्रगत विकास के लिए दोनों की ही आवश्यकता है—स्वामीजी के जीवन से यही प्रमाणित होता है। तथापि अध्यात्म विद्या से ही सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा एवं सार्थकता है।

धर्म मार्ग में हमलोगों ने प्रगति की है या नहीं, इसका क्या प्रमाण है? एक बच्चे का वजन संभवतः सात पाउण्ड होगा। उसे प्रचुर मात्रा में अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाने पर भी यदि सात महीने के बाद देखते हैं कि उसका वजन वही सात पाउण्ड ही है तो समझना होगा कि उसका शारीरिक विकास नहीं हुआ है। इसी भांति ठाकुर घर में पूजा-आरती करने, नियमित रूप से समय पर जप आदि करने पर भी, यदि देखा जाय कि हृदय उदार नहीं हुआ है—मन में उसी प्रकार हिंसा, द्वेष, अभिमान है, सबके प्रति सहानुभूति या प्रेम का भाव नहीं जाग्रत हुआ है, तब समझना होगा कि धर्म-पथ पर थोड़ी भी प्रगति नहीं हुई है। आत्मचैतन्य का विकास हृदय में जितना ही होगा उतना ही इस 'कच्चा मैं' का भाव दूर होगा। 'कच्चा मैं' के माध्यम से श्रीरामकृष्ण 'अहं' भाव की बात, क्षुद्र सीमा में आबद्ध 'मैं' की बात कहते हैं। यह 'मैं' केवल अपने स्वार्थ की बात समझता है। 'पक्का मैं' के द्वारा वे कहते हैं, सब के भीतर जो एक ही चैतन्य विराजमान है उसकी उपलब्धि के लिए जो प्रेरणा दे। 'पक्का मैं' के विकास से मनुष्य सबसे प्रेम करता है—सबकी सेवा करता है। जो सब में 'एक' को ही देखता है वह शोक मोह से विमुक्त होता है। इस तरह विचार कर साधन पथ में आगे बढ़ना पड़ता है।

केवल साधना के समय ही नहीं—घर में छोटे शिशु को शिक्षा देने के समय से ही इस 'पक्का मैं' के विकास की ओर लक्ष्य रखना होगा। अक्सर देखा जाता कि एक ही घर के दो लड़कों में एक लड़का खाने की कोई वस्तु पाने पर अकेला ही खा लेता है और दूसरा लड़का उस सामान्य वस्तु को ही सबके साथ बाँटकर खाता है। पहले लड़के का 'मैं' कच्चा है और दूसरे लड़के का 'मैं' विकसित हो गया है। इसी समय माता-पिता के द्वारा बच्चे के इस 'मैं' पन के विकास में सहायता करने पर वही होगा धर्म का प्रथम सोपान।

बर्ट्रेण्ड रसल कहते हैं, समाज में अधिकांश लोग बिलियर्ड के गेंद की तरह मात्र एक दूसरे को धकियाते हुए चलते हैं। यह धक्का-धुक्की या झगड़ा-झांटी 'कच्चा मैं' का प्रकाश है। इस 'कच्चा मैं' को पक्का कर शान्त भाव से एक दूसरे के प्रति सौहार्द्र लेकर चलने का प्रयोजन है अन्तर के सेवा-भाव को जगाना। इस सेवा के भाव से ही प्रेम का संचार होगा। और जिसके हृदय में प्रेम का संचार हुआ है वह तो धर्म के पथ पर कई सीढ़ियाँ पार चुका है। इस प्रकार ही होगा पक्का मैं

का विकास-आत्मचैतन्य का स्फुरण।

व्यक्तित्व के विकास का स्तर है। शैशवावस्था में प्रथम विकास शारीरिक स्तर पर होता है। तदुपरान्त क्रमशः अहं का प्रकाश होता है। धीरे-धीरे मानसिक शक्ति का विकास होता है। क्रमशः सामाजिक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है। यहीं से सेवा भाव की एक साथ मिलजुलकर कार्य करने का प्रयास शुरू होता है। अंग्रेजी में बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है—"Individuality growing into personality." मेरा अहं इतने दिनों तक गुप्त में ही सीमित था—मेरा सुख, मेरा दुःख, मेरा यह, मेरा वह। हर समय 'मेरा मेरा'। अब मैं दूसरे को स्वीकार करता हूँ—तुम्हारे आनन्द, तुम्हारे दुःख—वेदना के अंश में बाँट लेना चाहता हूँ। विश्व मानव के प्रति इस बोध के जगने पर, वही होगा। आध्यात्मिक विकास। स्वामीजी ने कहा है—"Expansion is life and Contraction is death"—विकास ही जीवन है और संकोच ही मृत्यु हमलोग स्वयं को जितना ही संकुचित कर रखेंगे उतना ही हमलोग आत्म हत्या के पथ पर अग्रसर होंगे। इसलिए हमें स्वयं को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—सभी दिशाओं में ही विकसित कर लेना होगा। इस विकास, इस आत्म ज्ञान का स्फुरण छोटे-छोटे कार्यों के द्वारा ही होगा। यही विकास हमलोगों को पशु से पृथक कर हमारी शक्ति को बढ़ा देता है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि यह मात्र शुरूआत है—

छोटे बच्चे को क्रमशः व्यक्तित्व विकास के पथ पर आगे ले जाना होगा, किस प्रकार 'क्षुद्र मैं' 'कच्चा मैं' को 'पक्का मैं' में परिणत करना होगा इसका संकेत उनके समक्ष करना होगा। इसके उपरान्त लम्बे पथ पर वह स्वयं ही चलेगा। यहाँ उसकी सहायता करेगी अध्यात्म विद्या-वेद वेदान्त की दिव्यवाणी, जो भारत की एकान्त सम्पदा है। शिल्प-साहित्य-विज्ञान इत्यादि में चरमोत्कर्ष प्राप्त करना, नोबेल पुरस्कार पाना, सभी निरर्थक हो जाते हैं यदि इस मानव जीवन में 'पक्का मैं' विकसित नहीं होता है, आत्म चैतन्य का स्फुरण नहीं होता है, आत्म स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है।

समुद्रमंथन के समय शिव के द्वारा विषपान की कहानी पुराण में कही गयी है। यह विषपान कर नीलकण्ठ होने का तात्पर्य क्या है? शिव विष को पचा लेते हैं, तुम्हारे मस्तक में सटस्नार पर वही शिव विराज रहे हैं। उनका ध्यान कर उनके साथ एकात्म होने पर तुम भी उस विष को पचाने की शक्ति प्राप्त करोगे। हमलोगों के जीवन में इस समुद्र मंथन का क्या अर्थ है? जीवन रूपी समुद्र में नित्य सुख-दुःख, अमृत—विष रूपी कितने ही ज्वार उठते हैं। दोनों को सहज भाव से ग्रहण करने की शक्ति चाहिए। विष को या दुःख को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है—किन्तु वह जैसे हमलोगों को अभिभूत नहीं कर सके, कण्ठ के नीचे नहीं उतर सके। यही है आध्यात्मिक विकास। तुम्हारे भीतर अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा विराजमान है। उन्हें जानने पर अनन्त का भाव जगेगा—असीम शक्ति भीतर से बाहर निकल आयेगी—सारे क्षुद्र-भाव हृदय से दूर हो जायेंगे।

जब तक हमलोग केवल अपने को लेकर अपने देह सुख को लेकर आवद्ध रहते हैं, तबतक हम लोगों के हृदय में क्षुद्रभाव का निवास रहता है। जब हमलोग अपने को लेकर व्यस्त नहीं रहते हैं तभी हृदय में महान भाव का संचार होता है सब को सुख के साधन प्रदान करने के लिए, सबकी सेवा करने के लिए मन तब व्याकुल होता है। केवल स्वयं अपना या अपना परिवार या प्रियजन ही नहीं—समग्र वसुधा ही तब उसका कुटुम्ब हो जाता है। एक गृहस्थ जबतक अपने गृह की सीमा में आबद्ध रहता है तबतक वह गृह कारागार स्वरुप रहता है। कारागार को भेदकर जगत् के कल्याण के लिए आत्म-नियोजित करना ही गृहस्थ का सनातन धर्म है। इस शरीर में आबद्ध रहकर ही मुक्त होने, घर में वास करते हुए ही सर्वत्यागी संन्यासी होने की बात भारतवर्ष ने ही एक बार कही थी। हमलोगों के पुराण, साहित्य स्थापत्य, भास्कर्म में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

आध्यात्मिक विकास या धर्म संसार त्याग के बिना नहीं होगा—ऐसा नहीं है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाण प्रस्थ, संन्यास—इन चारों आश्रमों को ही भारतवर्ष ने समानभाव से मर्यादा प्रदान की है। इन में गार्हस्थ्य धर्म का दायित्व सबसे अधिक है। कारण, अन्य तीनों आश्रमों का आश्रय स्थल गर्हस्थ्य ही है। गुरु गृह में ब्रह्मचारीगण गृहस्थों के पृष्ठ पोषण से ही अध्ययन करते हैं। वाण-प्रस्थियों तथा संन्यासियों की मधुकरी या जीवन निर्वाह करने का भार गृहस्थों का ही है।

किसी देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक हर प्रकार की उन्नति गृहस्थों के ऊपर ही निर्भर करती है। अतएव, गृहस्थ यदि संकीर्ण क्षुद्र सीमा में अपने को आबद्ध कर रखे तो वह स्वधर्म से भ्रष्ट होगा। उसे उदार होना होगा। यही उसका आध्यात्मिक विकास है। आज भारतीय गृहस्थों के एक बहुत बड़े भाग में धर्म की यह बात विस्मृत हो जाने के कारण ही समाज में इस प्रकार की विश्रृंखलता दिखाई देती है। आदर्श गृही और आदर्श संन्यासी में कौन बड़ा है—यह विचार करना मूर्खता है। स्वामीजी ने कहा है, दोनों में प्रत्येक ही अपने क्षेत्र में बड़ा है। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग गृहस्थ पार्षदों ने प्रमाणित कर दिया है कि गृहस्थ भी कितनी ऊँचाई तक उठ सकते हैं। उन सब गृहस्थ भक्तों के द्वारा आचरित धर्म ही इस युग का आदर्श है। घर में रहकर भी आत्मचैतन्य का विकास किस सीमा तक हो सकता है। इसे वे लोग अपने जीवन में दिखा गये हैं।

श्रीरामकृष्ण, श्री श्री माँ एवं स्वामीजी हमलोगों को सिखा गये हैं—व्यक्ति के रूप में सुन्दर होना होगा, व्यक्ति जीवन का मान उन्नत करना होगा।

'लीला प्रसंग' और 'वचनामृत' श्री सारदा देवी की वाणी और विवेकानन्द साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि आदर्श नागरिक में जिन गुणों का रहना उचित है वे सारी शिक्षाएँ हमलोग उनके जीवन और उपदेशों में पाते हैं। उन सब ने कहा है, अपनी स्वार्थ सिद्धि की बात सोचना अधर्म है, दूसरों की बात सोचना धर्म है। इन सारे उपदेशों का मनन और आचरण ही हमलोगों को उदार करने और हमलोगों के आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सकते हैं। श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ एवं स्वामीजी किसी विशेष धर्म का प्रचार करने नहीं आये थे—सनातन मानव धर्म की बात ही उन लोगों ने कही है, जिस धर्म का आचरण करने पर मनुष्य 'मान हूँश' होगा। उनलोगों ने 'सोलह आना' किया था, हमलोगों के द्वारा 'एक आना' कर पाने पर ही अभीष्ट की प्राप्ति होगी। गीता में भगवान् ने कहा है, "स्वल्पम प्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" अतएव, इस आध्यात्मिक विकास के लिए हमलोगों को तब तक चेष्टा करनी होगी जब तक लक्ष्य तक हम नहीं पहुँच जाते। वह लक्ष्य है अणुचैतन्य का विभुचैतन्य में प्रसारण। एक ही आत्मा सर्वभूतों में हैं यह जानकर सबके प्रति प्रेम और सेवा का भाव लेकर रहना—यही है प्रकृत धर्म। इस धर्म-लाभ के लिए तत्पर होना होगा। उपनिषद कही हैं—"उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" स्वामीजी कहते हैं—"Arise, awake and stop not till the goal is reached"—उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त होने तक रुको नहीं।

गाँव-गाँव तथा घर-घर में जाकर लोकहित एवं [illegible] कार्यों में आत्मनियोग करो, जिससे कि जगत का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न [illegible] पड़े, परन्तु दूसरों की मुक्ति हो…मृत्यु जब अवश्यम्भावी है तब सत्यकार्य के लिये प्राण-त्याग करना ही श्रेय है।

—स्वामी विवेकानन्द

संत रविदास

प्रो. लालमोहर उपाध्याय

[सद्ज्ञान के प्रबोध से व्यक्ति जब भास्वर होता है तो उसकी जाति और कर्म गौन हो जाते हैं। संत रविदास ऐसे ही ज्ञानी थे, जिन्होंने निम्न जाति में पैदा होकर भी भक्ति और ज्ञान की पराकाष्ठा छू ली। सहज साधक, वाह्याडम्बर से मुक्त, निर्गुण ब्रह्म के उपासक संत रविदास ने यह साबित किया कि ज्ञान-भक्ति की अध्यात्म विद्या पर किसी जाति विशेष का वर्चस्व नहीं है। चर्मकार का कर्म करते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार कर वे भारत की महान ऋषि परम्परा में शामिल हो गये। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के महान वैदिक उद्‌घोष को अपनी भक्तिपरक रचनाओं का विषय बनाकर उन्होंने भ्रमित मति को सही दिशा देने की कोशिश की। ६ फरवरी को इस महान संत का प्रादुर्भाव हुआ था। हम इस ज्योतिपुंज को नमन करते हैं।

(१)

धार्मिक क्रांति के अग्रदूत संत रविदास का यह कहना बिल्कुल सही है कि अगर कुछ लोग ये समझते हैं कि मस्जिद में ही अल्लाह का वास है, मंदिर में नहीं और कुछ मंदिर में राम का वास समझते हैं और मस्जिद में नहीं, वे पूर्णतः भ्रम में हैं। अगर सच पूछा जाय तो ऐसे सोचने वाले के लिए न राम मन्दिर में और न अल्लाह मस्जिद में है। इसीलिए तो दोनों का विरोध करते हुए संत रविदासजी ने कहा है :

'मस्जिद सो कुछ घिन नहीं, मंदिर सो नहीं प्यार।।
दोहिमह अल्लाह राम नहीं, कह रविदास चमार।।

सही बात तो यह है कि संत रविदास के भक्ति-मूलक पदों में राम, रहीम, केशव, करीम को एक दर्जा दिया गया है। इतना ही नहीं, उनकी नजर में काबा और काशी में वस्तुतः कोई भेद नहीं है :

'रविदास हमारो राम जोई, सोई है रहमाम।।
काबा काशी जानो यही दोनों एक समान।।'

सच तो यह है कि जब तक कृष्ण, करीम, राम, रहीम को एक रूप में नहीं देखा जायेगा तथा वेद एवं कुरान को एक नहीं समझा जायेगा। तब तक विश्व में भावात्मक एकता नहीं आ सकती। इसीलिए तो संत रविदासजी कहते हैं :

"कृष्ण करीम राम हरि राघव जब लग एक न पेखा।।
वेद कतेव कुरान पुरानन, सहज एक नहीं देखा।।"

संत रविदास को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि अल्लाह और राम एक है और हमें दोनों का स्मरण करना चाहिए। सबका जन्मदाता परमात्मा एक ही है। उसने समस्त मानव जाति को एक ही समान बनाया हैं तथा वह सब में एक ही समान निवास करता है, अतः हम सभी एक हैं, कोई छोटा बड़ा नहीं है :

"आदिधर्म आदि का जहां मानव जाति समान।।
छोटों बड़ों कोई नहीं मानुष जाति महान।।"

इतना ही नहीं, संत रविदास की नजर में हिन्दू-

मुसलमान दो नहीं एक हैं। इसीलिए तो संत रविदास डंके की चोट पर कहते हैं :

"कहन सुनन कू दुह करि धावे खालिक कीन्हों अजब तमाशा ॥
हिन्दू तुरुक दोउ एक है भाई, सच भाखे रवि-दासा ॥

संत रविदास का कहना बिल्कुल सत्य है कि किसी भी व्यक्ति की जाति-पाति पूछना बेकार है। कारण कि सभी एक ही पिता के बालक हैं, कोई जात कुजात नहीं है। असलियत तो यह है कि जाति-पाति का रोग ही मनुष्य को घुन की भांति खाता जा रहा है। वे तो यहां तक कहते हैं कि आज समाज में केले के पत्ते की तरह जाति में भी जाति-उपजाति है। अतः मानव तब तक एक साथ नहीं जुड़ सकता जब तक कि हमारे समाज में जाति-पाति जैसा संक्रामक रोग विद्यमान है :

"जनम जात मत पूछिए, का जात का पात ॥
रविदास पूत सम प्रभु के, कोउ न जात कुजात ॥
जाति-पांति के फेर महि, उरझि रहई सम लोग ॥
मानुषता को खात हई, रविदास जात कर रोग ॥
जाति-जाति में जात है, ज्यों केलन के पात ॥
रविदास न मानुष जुड़ सके, जो लौं जात न जात ॥

सामाजिक क्रांति के अग्रदूत संत रविदास ने गुलामी, दासता, बंधुआ मजदूरी के विरोध में कहा है :

"पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत ॥
रविदास दास पराधीन सो, कौन करै है प्रीत ॥
पराधीन को दीन क्या पराधीन बेदीन ॥
रविदास दास पराधीन को सबही समझैं हीन ॥"

संत रविदास जी का कहना है कि जन्म के कारण कोई नीच नहीं होता। खोटे कर्मों की कीचड़ मनुष्य को नीच बना देती है :

"रविदास जन्म के कारने होत न कोउ नीच ॥
नर कू नीच करि डारि है ओछे करम की कीच।"

संत रविदास की भक्ति भावना में एक ब्रह्म की उपासना की बात परिलक्षित होती है। परमात्मा का प्रकाश तथा अल्लाह का नूर सब में है। इनका कहना था कि सच्चा धर्म यह है जो मानव मात्र के लिए हो। सभी मनुष्य पांच तत्वों से बने हैं व सभी में एक ही प्रभु की ज्योति है, चाहे उनके अनेक नाम हैं, वह सभी का पिता है। यह उच्च-नीच, जाति-पाति के भेद मनुष्य द्वारा किया हुआ है। वे सभी मनुष्य प्रभु की दी हुई हवा, पानी, प्रकाश का उपभोग कर सकते हैं तो उसका सिमरन कर आत्म उन्नति क्यों नहीं कर सकते? इसी-लिए तो वे डंके की चोट पर कहते हैं :

"कह रविदास जो जपै नित नाम ॥
तिस जाति न जनम न जो निकाम ॥
रविदास ब्राह्मण मत पूजिए जउ होवे गुन हीन ॥
पूजहि चरण चांडाल के जउ होवे गुन परवीन ॥
कह रविदास सबै जग लुटिया ॥
हम तउ एक राम कहि छुटिया ॥
रविदास सुकरेमन करन सो ऊंच नीच हो जाय ॥
करई कुकरम जो ऊंच भी तो महा नीच कहलाय ॥
सांची प्रीति हम तुम सिउ जोरी
तुम सिउ जोरी अवर संग तोरी
(श्री गुरुग्रंथ साहिब रविदास वाणी)

उनकी भक्ति भावना की पराकाष्ठा को निम्नांकित वाणी में पूर्ण रूप से देखा जा सकता है :

"मन ही पूजा मन ही धूप।
मन ही सेउ सहज सरूप ॥"

आज की विषम परिस्थिति में संत रविदास की वाणी हम सबों के लिए मृत संजीवनी है, जिससे हम प्रेरणा लेकर जीव एवं जगत का कल्याण कर सकते हैं।

कुल मिलाकर संत रविदास के अमर संदेशों की प्रासंगिकता साम्प्रदायिकता और सद्भावना हेतु और बढ़ गयी है।

(२)

आडम्बरहीन भक्ति के पक्षधर

मध्ययुगीन साधकों में संत रैदास रविदास का विशिष्ट स्थान है। निम्न वर्ग में जन्म लेने के बावजूद वे उत्तम जीवन-शैली, उत्कृष्ट साधना पद्धति और संयमत आचरण के कारण आज भी भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में सादर स्मरणीय है। रैदास का जन्म काशी में हुआ था- काशी को ही उनका निवास-स्थान माना गया है। कबीर की भांति ही उनके जीवन काल के विषय में भी बड़ा मतभेद हैं। 'रैदास की परिचई' में जन्म काल का उल्लेख नहीं है। 'भक्तमाल' और डा. भण्डारकर के अनुसार उनका जन्म १२९९ ई. में हुआ था। डा. भगवत व्रत मिश्र ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि कवि का जन्म काल १३९८ ई. और मृत्यु काल १४४८ ई. के मध्य होना चाहिए। धन्ना और मीरा बाई ने रैदास का उल्लेख किया है। यह भी कहा जाता है कि रैदास मीरा बाई के गुरू थे। रैदास ने स्वयं अपनी रचना मे कबीर और सेन का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि रैदास कबीर से छोटे थे। मोटे तौर पर उनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

रैदास चमार दम्पत्ति से उतमन्न हुए थे। इस सम्बन्ध में अनेक अन्तरसाक्ष्य उपलब्ध हैं। यथा: 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार', चरन सरन रैदास चमइया' आदि। अनन्त दास द्वारा लिखित 'परिचई' और प्रिया-दास के 'सटीक भक्तमाल' के अनुसार रैदास को स्वामी रामानन्द ने दीक्षा दी थी, परन्तु रैदास की रचनाओं में कहीं भी रामानन्द का उल्लेख न होने से इस विषय में शंका होती है।

रैदास घुमक्कड़ प्रवृत्ति के थे। उन्होंने प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, भरतपुर, जयपुर, पुष्कर, चितौड़ आदि स्थानों का भ्रमण किया। उन्होंने निर्गुणोंपासना का रैदासी पंथ भी चलाया। रैदासी या रविदासी पंथ के लोग राजस्थान महाराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी-उत्तर-प्रदेश में विशेष रूप से मिलते हैं।

रैदास मूलतः संत थे उनकी रचनाओं में कबीर की भांति जोर कला पक्ष की अपेक्षा प्रतिपाद्य पर अधिक रहा है। अन्य ब्रह्ममार्गी कवियों की भांति उनके लिए भी निर्गुण ब्रह्म अनुभूति और जिज्ञासा का विषय है। कभी वे उसकी सत्ता और स्वरूप की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं, तो अन्यत्र उसे एक सुनिश्चित रूप देने के लिए उन्होंने ईश्वर के समस्त रूपों में ऐक्य और अभिन्नता के दर्शन भी किये हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधानों का विरोध कर उन्होंने आभ्यन्तरिक साधना पर बल दिया।

कबीर की तरह रैदास की भी सहज समाधि लगी हुई थी और वे एक निरुपाधि मानव के रूप में भगवान से लौ लगाये हुए जीवन-मरण के भय से मुक्त हो गये थे। 'पीर पराई' के जानने वाले इस संत ने राम-भक्ति के दुरूह पथ को सहज बना दिया। संत रैदास ने मन-बचन-कर्म से राम को अपना बना लिया था। वे एकांगी प्रेम के लिए भी तैयार थे। इसलिए उन्होंने यह निवेदन किया कि हे राम! अगर तुम अपनी ओर से नाता तोड़ भी दो तो भी मैं नहीं तोड़ सकता।

संत रैदास ने कोई शास्त्रीय शिक्षा ग्रहण नहीं की थी, किन्तु उनकी साधना और भक्ति के कारण भक्तों में उनका स्थान बहुत ऊंचा था। उनका अत्यन्त प्रसिद्ध पद जो उनकी तन्मय भक्ति भावना को प्रकट करने वाला है, निम्नांकित हैं:

"अब कैसे छूटै राम, नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवन चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

भक्ति की भावना ने रैदास में इतना बल भर दिया कि उन्होंने डंके की चोट पर यह घोषित किया कि उनके कुटुम्बी बनारस के आस-पास ढोर ढोते हैं और दासानुदास रैदास उन्हीं का वंशज हैं :

"जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवंत फिरहि अजहुँ बानारसी आसपासा।
आचार सहित विप्र करहि डंड उति तिन तनै रविदास दासानुदासा।"

रैदास की भक्ति विनम्र और आडम्बरहीन हैं। उन्होंने अपनी रचना में दैन्य भाव व्यक्त किया है। भक्ति सम्बन्धी मत को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने कहा :

"सतजुग सति त्रेता जगि, द्वापर पूजा चार।
तीनो जुग तीनों दृढ़े, कलि केवल नाम अधार।।"

संत रैदास ने अपने पदों में आत्मा और परमात्मा की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार जीव (आत्मा) ईश्वर (परमात्मा) से पृथक न होकर उसी का रूप है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मेरे (जीव) और तेरे (तोहि-ईश्वर-ब्रह्म) में कोई अन्तर नहीं। मैं और तू मूलतः ठीक उसी प्रकार एक हैं, जिस प्रकार सोना तथा गहना और जल एवं उससे उत्पन्न होने वाली तरंग एक ही है :-

"तोहि मोहि, मोहि तोहि अंतरु कैसा।
कनक कटिक, जल तरंग जैसा।।"

(हिन्दुस्तान, पटना-४ फरवरी ९३ अंक से आभार)

□

श्रीरामकृष्ण संदेश

—डा० रामाशीष प्रसाद

विषयी गोबर का कीड़ा है अन्यत्र छटपटाया करता;
मुखड़ा रक्तिम हो जाय ऊँट कंटिल बबूल खाया करता।

जब जल का भाग अधिक रहता खोआ न दूध जल्दी बनता;
वासना अधिक नव रहती है अध्यात्म नहीं जल्दी जगता।

अपने विषयों की ज्वाला में है जीव जल रहा बन बेबस;
जैसे निज निर्मित लाल मध्य रेशम का कीड़ा जाता फँस।

वैराग्य विवेक उदित होता तो बद्धजीव होते विमुक्त;
रेशम का कीड़ा तितली बन काटता जाल हो पंख युक्त।

हाथी के दांत दिखाने के खाने के और हुआ करते,
जानना कठिन है बाहर से हैं साधक भाव छिपा रखते।

मुख से निकालना बोल सहज होता है कथनी के समान,
उसको निकालना तबले से दुष्कर है करनी के समान।
विश्वासी दृढ़ पत्थर समान सहता दुख हो अपना सहाय,
विश्वासहीन माटीढेला गलता जो जल से निःसहाय।
बालक को कैसे समझावें क्या स्वाद रमण सुख लाता है;
विषयी को कैसे बतलावें क्या ब्रह्मानन्द कहाता है।
जूठे हो चुके पुराणवेद कहते कहते मानव मुख से,
पर ब्रह्म न जूठा है अब भी कह सके नहीं जिसको मुख से।
अभिमानी तर्क जाल रचते मानों फल पेड़ों को गिनते;
पर बुद्धिमान मालिक से मिल अध्यात्म आम्रफल को चखते।
है संत और मणिवर समान घर अपना नहीं बनाते हैं,
औरों के घर में रह लेते आसक्ति नहीं दिखलाते हैं।
दीपक के तले अँधेरा है होता प्रकाश सब ओर जहाँ,
हैं संत उपेक्षित आस पास पूजित होते सब ओर वहाँ।
तारे रजनी को चमकाते छिप जाते जब सूरज उगता,
अज्ञान अवस्था जब आती तब ब्रह्म न दिखलाई पड़ता।
चूहेदानी की गंध महक लोभित चूहे ही फँस जाते,
आनन्द-ब्रह्म-चावल बिसार विषयों में मानव फँस जाते।
धनमान खिलौने को लेकर मानव बालक भूला रहता,
आनन्दमयी माँ को पाकर सब छोड़ मधुर आश्रय गहता।
बंजर होता है कपटीमन उगता न जहाँ कुछ भी लजीज,
कोमल मिट्टी का हृदय जहाँ अंकुरित वहाँ वह ब्रह्मबीज।
शिखरों पर नहीं ठहरता जल तल में आकर होता संचित;
विनयी तो सार ग्रहण करता अभिमानी ही उससे वंचित।
योगी निष्क्रिय-सासक्रिय ज्यों लट्टू गतिशील लगे निश्चल,
जल से पैदा होकर जैसे रहता जल से निर्लिप्त कमल।

ज्ञानमार्ग, दौलतगंज
छपरा (बिहार)

मानस में मंत्र-दीक्षा

स्वामी शशांकानन्द
प्राचार्य, रामकृष्ण मिशन समाज सेवक शिक्षण मंदिर
बेलुड़ मठ

मंत्र के माध्यम से सद्गुरु शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति संचारित करते। शिष्य इस गुरु-प्रदत्त मन्त्र का जितना श्रद्धा-पूर्वक निष्ठा और विश्वास सहित जप करते रहते हैं उतना ही यह मन्त्र चैतन्य होता जाता है और शिष्य की आध्यात्मिक चेतना जागृत हो उठती है एवं इष्ट दर्शन होते हैं।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "गुरु जो नाम दें, विश्वास करके उस नाम को लेकर साधन-भजन करना, चाहिए। जिस सीप में मुक्ता तैयार होता है, वह सीप स्वाति नक्षत्र का जल लेने के लिए तैयार रहती है। उसमें वह जल गिर जाने पर फिर एक दम अथाह जल में डूब जाती है और वहीं चुपचाप पड़ी रहती है। तभी मोती बनता है।" (रामकृष्ण वचनामृत III-५७५)

गुरु प्रदत्त मंत्र ही वह स्वाति नक्षत्र का जल है जिसे यह सीप रूपी शिष्य लेने के लिए तैयार रहता है। स्वाति बूंद का सीप में जिस प्रकार गिरना होता है उसी प्रकार गुरुप्रदत्त मंत्र शिष्य में कर्ण द्वारा प्रवेश करता है और सद्गुरु द्वारा शिष्य को मंत्र देना ही मंत्र-दीक्षा है। मंत्र प्राप्त कर शिष्य मन की गहराई में उतरकर उसी को धारण करे रहता है अर्थात् इष्ट मंत्र के जप और ध्यान में डूबा रहता है तब जाकर कहीं मुक्तिरूपी मोती तैयार होता है।

मंत्र दीक्षा से पहले दीक्षार्थी में इष्ट देवता के प्रति एक निष्ठा और दृढ़ विश्वास होना अनिवार्य है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री की अपने पति में ही निष्ठा होती है। और फिर इष्ट प्राप्ति के लिए व्याकुलता और उनके प्रति प्रेम आवश्यक है।

इष्ट निष्ठा

रामचरित मानस में गरुड़जी के यह पूछने पर कि काकभुशुण्डि जी को 'काक' योनि कैसे प्राप्त हुई उन्होंने कहा कि यद्यपि वे ब्राह्मण थे और सब प्रकार से निर्गुण ब्रह्म की उपासना के अधिकारी थे तथापि उनके मन में सगुण ब्रह्म की उपासना ही इप्सित थी। बचपन से ही उन्हें बालक राम के प्रति अत्यन्त भक्ति और अनुराग था। पढ़ाई-लिखाई में उनका मन तनिक नहीं भी लगता था। खेल-कूद की जगह वे केवल भगवान राम की लीलाएँ किया करते थे। माता-पिता का स्वर्गवास होते ही वे तपस्या के लिए वन में चले गए। वहाँ मुनियों के आश्रम में जाकर उन्हें प्रणामादि करते तथा मुनियों से भगवान श्रीराम के गुणानुवाद सुनते। ऐसा करते-करते उनकी तीनों गहरी प्रबल वासनाएँ छूट गयीं। पुत्र, धन और मान की वासनाओं से मुक्त मन में केवल भगवान राम के दर्शनों की तीव्र अभिलाषा मात्र रह गयी। इस अवस्था में जब वे मुनियों से श्रीराम प्राप्ति का साधन पूछते तो उत्तर मिलता, "ईश्वर सर्व भूतमय अहई॥" अर्थात् ईश्वर सब जीवों में विराजमान हैं। किन्तु यह निर्गुण मत उन्हें सुहाया नहीं। फिर वे लोमश ऋषि के पास पहुँचे तो उनसे सगुण ब्रह्म की उपासना पद्धति में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की।

लोमश मुनि ने पहले तो बड़े ही आदर के साथ

श्री रघुनाथजी के गुणों की गाथाएँ कहीं और फिर ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करने लगे। किन्तु भुपुण्डि जी की तो निष्ठा बालक राम में थी। इसलिए उन्होंने लोमश मुनि से कहा,

राम भगति जल मम मन मीना।
किमि बिलगायी मुनीस प्रबीना॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया।
निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥

'—हे चतुर मुनीश्वर। मेरा मन तो रामभक्ति रूपी जल में मछली हो रहा है। ऐसी दशा में वह उससे अलग कैसे हो सकता है? अर्थात् राम भक्ति के बिना मैं जीवन न रख सकूँगा। आप दया करके वही उपाय कहिए जिससे मैं श्री रघुनाथ जी को अपनी आँखों से देख सकूँ।

यहाँ भुपुण्डिजी की भूल न समझना चाहिए। ऐसा नहीं कि उनके मत में निर्गुण ब्रह्म की उपासना भूल है, बल्कि वे पहले जी भर के श्रीराम के दर्शन करना चाहते थे। यह तो उनकी अपने इष्ट देवता में दृढ़ निष्ठा और विश्वास का ही प्रतीक है। उन्होंने लोमश मुनि से कहा,

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहहुँ निर्गुन उपदेसा॥

'—हे मुनिवर। मैं पहले नेत्र भरकर श्री अयोध्या नाथ को देख लूँ, तब निर्गुण का उपदेश सुनूँगा।

लोमश मुनि ने बार बार निर्गुण ब्रह्म में उन्हें (भुपुण्डिजी को) दीक्षित करने का प्रयास किया। जब शिष्य में कोई मत-परिवर्तन नहीं हुआ तो मुनि ने क्रोध में आकर श्राप दे दिया।

मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि।
उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि॥
सत्य बचन बिस्वास न करहीं।
बायस इव सब ही ते डरहीं॥

सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला।
सपदि होहि पच्छी चंडाला॥

'—अरे मूढ़! मैं सर्वोत्तम शिक्षा देता हूँ तो भी तू उसे नहीं मानता और बहुत सी दलीलें लाकर रखता है। मेरे सत्य वचन पर विश्वास नहीं करता। कौवे की भाँति सभी से डरता है। अरे मूर्ख। तेरे हृदय में अपने पक्ष का बड़ा भारी हठ है। अतः तू शीघ्र चाण्डाल पक्षी (कौआ) हो जा।'

भुपुण्डि जी ने इस श्राप को सादर शिरोधार्य किया और कौवा बन गए। न तो उन्हें कोई भय ही हुआ और न दीनता ही आई। इष्ट प्रेम और निष्ठा के सामने सभी कुछ तुच्छ दिखाई पड़ा। इसीलिए वे धैर्य खोकर क्रोधित नहीं हुए बल्कि अत्यन्त विनयी बने रहे। अभिमान शून्य, अक्रोधी, धैर्यशाली रामप्रेमी आनन्द से भर कर उड़ चला। यह है इष्ट-निष्ठा की पराकाष्ठा।

इष्ट-निष्ठा से पराजित गुरु लोमश

लोमश मुनि तो काकभुपुण्डि जी के व्यवहार को देखकर चकित रह गए। यह कैसी अपूर्व दृढ़ इष्ट-निष्ठा। श्राप देने पर भी उन्हें क्रोध नहीं आया, ग्लानि नहीं हुई, दुख नहीं हुआ। अभी भी राम-प्रेम में विभोर हुआ है। अतः लोमश पश्चाताप करने लगे और भुपुण्डिजी की इष्ट-निष्ठा देख उनका मत बदल गया। उन्होंने भुपुण्डि जी को अनेक प्रकार से सन्तोष दिया।

मंत्र-दीक्षा—(भुपुण्डि जी के ही इष्ट देवता का मंत्र)

मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा।
हरषित राम मन्त्र तब दीन्हा॥

'—भुपुण्डि जी कहते हैं कि तब मुनि जी ने मुझे अनेक प्रकार से सन्तोष दिया और प्रसन्न होकर राममंत्र दिया।

इष्ट मंत्र गुप्त होता है। गुरू केवल शिष्य के कान में ही मंत्र देते हैं और गुरू छोड़कर कोई भी शिष्य को मिले मंत्र को नहीं जानता। फिर भी इतना हम कह सकते हैं कि लोमश मुनि ने उन्हें बालक राम का ही

मंत्र दिया होगा क्योंकि लोमश मुनि ने मंत्र प्रदान कर उन्हें बालक राम का ध्यान करने की विधि बतायी।

इष्ट-ध्यान

इष्ट-देवता के ध्यान की विधि भी सद्गुरु दीक्षा के समय शिष्य को बता देते हैं क्योंकि मंत्र जाप के साथ-साथ इष्ट-ध्यान और इष्ट-चिन्ता करना आवश्यक है। भुशुण्डि जी आगे बतलाते हैं,

बालक रूप राम कर ध्याना।
कहेउ मोहि मुनि कृपा निधाना॥
सुन्दर सुखद मोहि अति भावा।

'—कृपा निधान मुनि ने मुझे बालकरूप श्रीरामजी के ध्यान की विधि बतायी। सुन्दर और सुख देने वाला यह ध्यान मुझे बहुत ही अच्छा लगा। वह क्या विधि है? उसे काकभुशुण्डि जी पहले ही कह चुके हैं। उसका वर्णन करते हुए काकभुशुण्डि जी कहते हैं कि हे गरुड़जी,

इष्ट देव मम बालक रामा।
सोभा बपुष कोटि सत कामा॥
निज प्रभु बदन निहारी निहारी।
लोचन सुफल करउँ उरगारी॥

'—बालक रूप श्रीराम मेरे इष्ट देव हैं, जिनके शरीर में अरबों कामदेवों की शोभा है। हे गरुड़जी! अपने प्रभु का मुख देख-देखकर मैं नेत्रों को सफल करता हूँ।'

बालक राम का ध्यान

बाल विनोद करत रघुराई।
बिचरत अजिर जननी सुखदाई॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।
अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना।
पदज रुचिर नख ससि दुति हरना॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी।
नूपुर चारु मधुर रवकारी॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई।
कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥

रेखा त्रय सुन्दर उदर नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर॥

अरुन पानि नख करज मनोहर।
बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा।
चारु चिबुक आनन छबि सींवा॥
कलबल बचन अधर अरुनारे।
दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा।
सकल सुखद ससि कर सम हासा॥
नील कंज लोचन भव-मोचन।
भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥
बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए।
कुंचित कच मेचक छबि छाए॥
पीत झीनि झगुली तन सोही।
किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी।
नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥

'—माता को सुख देने वाले बालविनोद करते हुए श्री रघुनाथ जी आँगन में विचर रहे हैं। मरकत मणि के समान हरिताभ श्याम और कोमल शरीर है। अंग-अंग में बहुत से कामदेवों की शोभा छायी हुई है। नवीन (लाल) कमल के समान लाल-लाल कोमल चरण हैं। सुन्दर अँगुलियाँ हैं और नख अपनी ज्योति से चन्द्रमा की कान्ति को हरने वाले हैं। तलवे में वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के सुन्दर चिह्न है। मणियों से जड़ी हुई सोने की करधनी का सुहावना शब्द सुनायी दे रहा है। उदर पर तीन रेखाएँ हैं, नाभि सुन्दर और गहरी है। विशाल वक्ष स्थल पर अनेकों प्रकार के बच्चों के आभूषण और वस्त्र सुशोभित हैं। लाल-लाल हथेलियाँ, नख और अँगुलियाँ मन को हरने वाले हैं और विशाल भुजाओं पर सुन्दर आभूषण हैं। बाल सिंह के से कंधे और शंख के समान तीन रेखाओं युक्त गला है, सुन्दर ठुड्डी है और मुख तो छवि की सीमा ही है। तोतले वचन और लाल-लाल ओंठ हैं। उज्ज्वल, सुन्दर और छोटी-छोटी दो दो दँतुलियाँ हैं। सुन्दर गाल, मनोहर नासिका और सब सुखों को देने वाली पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान मधुर मुसकान है। नीले

कमल के समान नेत्र जन्म-मृत्यु के बंधन से छुड़ाने वाले हैं। ललाट पर गोरोचन का तिलक सुशोभित है। भौहें टेढ़ी हैं, कान सम और सुन्दर है। काले और घुंघराले केशों की छवि छा रही है। पीली और महीन झंगुली शरीर पर शोभा दे रही है। उनकी किलकारी और चितवन मुझे बहुत ही प्रिय लगती है। राजा दसरथ के आंगन में विहार करने वाले रूप की राशि भगवान श्रीरामचन्द्र जी अपनी परछायीं देखकर नाचते हैं।

मंत्र जाप और इष्ट देवता का ध्यान ही उपासना का मुख्य अंग होता है। मंत्र में बड़ी शक्ति होती है उसके बल पर इष्ट देवता की प्राप्ति हो जाती है। स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है, "पवित्र प्रतीकों के नामों या शब्दों का व्यवहार भक्तियोग में होता है। इन नामों में अपरिमित शक्ति रहती है। इनके जपने से ही हमें मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति हो सकती है, हम पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। (वि० सा० IX—५०)

भगवान् श्री राम स्वयं रामचरित मानस में शवरी पर कृपा कर उसे नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए कहते हैं, "मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥"

अर्थात् इष्ट देवता में दृढ़ विश्वास के साथ यदि इष्ट-मंत्र का जाप किया जाए तो जीव को योगियों को भी दुर्लभ अपना सहज स्वरूप प्राप्त हो जाता है। 'मंत्र जाप और इष्ट-देबता में विश्वास नौ प्रकार की भक्तियों में से एक है और श्री राम कहते हैं कि—

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।

'अर्थात् जो भी इष्टदेव में विश्वास के साथ मंत्र जाप करेगा वह स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन कोई भी हो हे भामिनि। मुझे वही अत्यन्त प्रिय है।'

रामचरितमानस में प्रसंग आता है कि भरत लाल जी की इस प्रकार की अवस्था हो गयी थी जिसका वर्णन भगवान राम स्वयं करते हैं।

"तापत वेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।"

'—तपस्वी के वेष में कृश काय से निरन्तर मेरा नाम जप कर रहे हैं।' और ये श्रीराम को १४ वर्ष की अवधि में ही पाना चाहते अतः वे कहते हैं,

वीतें अवधि जाऊँ जौं जिअत न पावउँ वीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

'—यदि अवधि बीतने पर मैं जाता हूँ तो भाई को जीता न पाउँगा। और भरत जी भक्ति और निरंतर नामस्मरण करने की अवस्था का स्मरण करके प्रभु का शरीर बार बार पुलकित हो रहा है।' और वे विभिषण जी से कहते हैं हे सखा! वही उपाय करो जिससे मैं जल्दी से जल्दी उन्हें देख सकूँ। मैं तुमसे निहोरा करता हूँ।'

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि निष्ठा और प्रेम और व्याकुलता से मंत्र जाप यदि किया जाए तो भगवान् भी अपने भक्त के लिए व्याकुल हो उठते हैं। और उसे देखने के लिए तुरन्त भागे आते हैं।

दीक्षा होने के बाद गुरु के पास कुछ समय रहकर भगवत्प्रसंग करने की विधि है इसलिए लोमश मुनि ने भुषुंडिजी को अपने पास रख लिया और उन्हें वह रामचरित सुनाया जो उन्होंने भगवान् शंकर की कृपा से पाया था।

गुरु आशीर्वाद

मंत्र दीक्षा के उपरान्त ध्यान विधि, इष्ट गाथा आदि सम्पन्न कर अन्त में शिष्य को आशीर्वाद करने को प्रथा हमें रामचरित मानस में मिलती है।

लोमश मुनि ने अपने कर-कमलों से भूषुण्डिजी का सिर स्पर्श करके हर्षित होकर आशीर्वाद दिया

राम भगति अबिरल उर तोरें।
बसिही सदा प्रसाद अब मोरें॥

अब मेरी कृपा से तेरे हृदय में सदा प्रगाढ़ राम भक्ति बसेगी।

मंत्र प्राप्ति के उपरान्त शिष्य को सीप की भांति गहराई में डूब कर स्वाति जल की तरह इष्टमंत्र को पकड़कर रहना चाहिए।

विश्वमोहिनी करुणानना अतन्द्रनयनी

—स्वामी विमलात्मानन्द
अनुवादक— प्रियव्रत शर्मा
२६/६, शैलेनघर रोड, लिलुआ, हावड़ा

सुदूर देहात का एक गाँव था। सड़कें नाममात्र की थीं। कुछ तालाव थे। जिनमें कहीं लाल और कहीं सफेद कमल के फूलों की छटा ही निराली थी। गाँव की चारों ओर खड़े अनगिनत पेड़ हरियाली बिखेरते थे। वगल में ही एक छोटी नदी बहती थी। गुलाव, जूही व चमेली आदि फूलों की खुशबू से मदमोत भौंरे स्वच्छंद विचरते थे। एक किशोर वालक ने देखाकि एक विदेशी ब्रह्मचारी कूएँ से पानी खींच रहे थे। वह आश्चर्यचकित रह गया—उस समय वह कॉलेज का विद्यार्थी था। कौतूहल भरी दृष्टि से उसने विभिन्न प्रकार के प्रश्न उस विदेशी ब्रह्मचारी से पूछे। ब्रह्मचारी ने कहा, 'जयरामबाटी की शिवपुरी में काफी वर्षों से हूँ। यह जयरामबाटी आधुनिक युग का शक्तिपीठ है। यहाँ रहना मुझे अच्छा लगता है।' टूटी-फूटी वंगला में उन्होंने वंगला गीत की कुछ पंक्तियाँ सुनायीं। जिनके भाव थे, 'माँ, तुम हो और मैं हूँ तो चिन्ता किस वात की।' मन्दिर में अधिष्ठित पद्मासीना श्रीमाँ की मूर्ति की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा, 'वे ही सब हैं।' श्रीमाँ का यह विश्व-मोहिनी दयालु रुप ही मुझे यहाँ खींच लाया है। श्रीमाँ अतन्द्रनयनी हैं, अर्थात्, जाग्रत है एवं हमारी देख-रेख करती हैं। श्रीमाँ फ्रांस के इस ब्रह्मचारी की भी माँ हैं।

श्रीमाँ की करुणा-धारा में ही प्रवाहित होकर सुदूर फ्रांस से यह युवक इस अनजाने जयरामबाटी में आया था वैराग्य-जीवन व्यतीत करने—यह श्रीमाँ की अद्भुत लीला है। जयरामबाटी आज एक अंतरराष्ट्रीय तीर्थ स्थान बन गया गया है। वन्दनीया श्रीमाँ श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी थीं एवं सभी की पूज्यनीया। किन्तु प्रारम्भ में जयरामबाटी के लोगों द्वारा ही उनका उपहास तथा अपमान किया गया था—यह कहकर कि सारदा श्री दुर्गा-स्वरुपा कैसे हो सकती हैं? बाद में जब भारी संख्या में पढ़े-लिखे लोग जयरामबाटी जाकर श्रीमाँ को देवी के रूप में पूजने लगे, तो, वहाँ के ग्रामवासियों का माथा ठनका। उनकी सारदा निन्दनीया हो ही नहीं सकतीं, जवकि समाज के प्रतिष्ठित लोग उनका इतना आदर व सम्मान करते हों। सारदा को श्रीदुर्गा के आसन पर विठाया जाता तो कहतीं—नैव नैव च; अर्थात् अभी नहीं, अभी नहीं। पर लज्जा-वश श्रीमाँ धीरे से मुस्कुरा देती और कोई विरोध नहीं करतीं। धीरे-धीरे उन्होंने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। वे विश्व को मोहित कर देनेवाली करुणानन अतन्द्रनयनी कहलाने लगीं। फ्रांस के ब्रह्मचारी भी उनके असंख्य अनुयायिओं में एक थे। इस प्रकार के कुछ और उदाहरणों का उल्लेख मैं करना चाहूँगा।

बर्दवान का एक सब्जीवाला विभिन्न प्रकार की सब्जियां बेचने रोज कलकत्ता जाया करता था। एक दिन अपनी सब्जी की टोकरी लिए बर्दवान स्टेशन पर गाड़ी की प्रतीक्षा में वैठा था। टोकरी में चौलाई के तथा कुछ अन्य साग थे। वगल में ही एक वृद्ध सौम्य महिला सिकुड़ी-सी वैठी थीं। उनकी दृष्टि साग भरी टोकरी पर पड़ी। हाथ से इशारा करते हुए कहा, "वाह! कितने अच्छे ताजे साग लाये हो। इतना ताजा साग कितने दिनों से नहीं देखा।" सब्जीवाले ने वृद्धा पर नजर डाली। उसने उनको देखकर क्या सोचा, क्या समझा, वह तो वही जाने। पर कहा,

सब्जी चाहिये तो दो-एक मुट्ठी साग ले लीजिये। "माँ परेशान न हों, पैसे नहीं माँगूंगा।"। बूढ़ी ने उत्तर दिया, "मैं घर नहीं जा रही हूँ।" उसके बाद पूछा, "तुम कहाँ जाओगे, बताओ? श्याम बाजार जाते हो सब्जी बेचने? तो देखो, तुम्हारी अगर इच्छा हो, तो किसी दिन मेरे घर भी साग दे आना।" सब्जीवाले का प्रश्न था, "आपका पता क्या है?" बूढ़ी का उत्तर था, "कोई खास नहीं, श्याम बाजार से आगे उत्तर की ओर बाग बाजार है। उधर ही जाकर पूछ लेना माताजी का मकान कौन-सा है कोई-न-कोई तुम्हें अवश्य बता देगा।" सब्जीवाले ने दूसरे ही दिन उनके लिये कुछ ताजे साग अलग रख दिये। श्याम-बाजार माताजी के मकान पर हाजिर हुआ। देखा कि वहाँ केवल साधुओं की भीड़ है। एक साधु से पिछले दिन वाली घटना का जिक्र किया। साधू ने कहा कि यहाँ कोई बूढ़ा नहीं रहती हैं। परन्तु सब्जी-वाले ने बात दोहरायी, "पर बूढ़ी माताजी ने तो यहीं आने को कहा था।" उसका मन दुःखित हो गया। अकस्मात् उसकी दृष्टि दिवाल पर टंगी श्रीमाँ की तस्वीर पर पड़ी। वह हतप्रभ हो गया और चिल्लाकर कहा, "उन्होंने ही मुझे यहाँ आने के लिये कहा था।" इसी बीच साधुओं की एक भीड़ जमा हो गयी और तब जाकर वस्तुस्थिति की सही जानकारी हुई। यह स्पष्ट हो गया कि सब्जीवाले ने करुणानन श्रीमाँ के दर्शन प्राप्त किये थे।

बेलूड़मठ में श्रीमाँ का मन्दिर है। पूर्व दिशा से सूर्य की रक्तिम आभा अभी बिखरी न थी। कोई भक्त या दर्शनार्थी भी न था। नीला आकाश शांत था। दक्षिणी हवा की रिमझिम बयार थी। कृष्ण-चूड़ा के पेड़ प्रभात को अभिवादन करने हेतु असंख्य लाल फूल अपनी अंजुलि में लिए खड़े थे। बगल में नित्य प्रवाहरता भागिरथी थीं। दो-एक साधू अन्य मन्दिरों में प्रणाम-निवेदन में मग्न थे। एक वयस्क संन्यासी श्रीमाँ के मन्दिर में उपस्थित हुए। उन्होंने अपने काँपते हुए हाथों की अंगुलियों को छाती पर रखा। एकटक से श्रीमाँ के करुणामय दिव्य चेहरे की ओर देखने लगे। उनकी दोनों आँखों में अश्रु-धारा बहने लगी। श्रीमाँ के समक्ष अपने हृदय की कौन-सी अनुभूतिओं को उन्होंने प्रकट किया?—इसे कौन जान सकता है? श्रीमाँ को छोड़कर इस जगत में उनका दूसरा कोई अपना नहीं। सभी को देखनेवाली अतन्द्रनयनी श्रीमाँ जाग्रत रूप में अपनी संन्यासी-सन्तान के समक्ष प्रकट हुई थीं।

रशिया एक कम्युनिष्ट या समाजवादी देश है। वहाँ धर्म-चर्चा की बिल्कुल मनाही है। वह बहुत पाबंदियों वाला देश है। लेकिन फिर भी वहाँ रामकृष्ण-विवेकानन्द पर चर्चा का श्रीगणेश हो चुका है। गत कुछ वर्षों से एक खुले परिवेश में वहाँ भी धर्म-दर्शन के प्रति जिज्ञासा ने अपना एक स्थान बना लिया है। बहुत से वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलाकर, प्राध्यापक एवं बुद्धिजीवियों को इस ओर आकृष्ट किया है। डॉ० रिमाकोव इन्हीं बुद्धिजीवियों में से एक हैं, जिन्हें रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य ने काफी प्रभावित किया है। परन्तु सबसे अधिक उन्हें मुग्ध किया है श्रीमाँ का जीवन। उनके अनुसार श्रीमाँ का जीवन इतना सादा-सीधा था कि वे बिल्कुल एक ग्राम्य-महिला की तरह ही थीं। पर उनका स्थान नरेन, राखाल व गिरीश अदि जैसे विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े शिक्षित वर्ग के हृदय में था। यहीं श्रीरामकृष्ण का 'Miracle' या उनकी अलौकिक शक्ति का परिचय मिलता है। श्रीमाँ के मातृत्व से मुग्ध होकर डॉ० रिमाकोव ने रूसी भाषा में उनकी पूरी जीवनी लिखने का निश्चय किया है। श्रीमाँ का करुणामयी जननी रूप ऐसा ही है कि एक समाजवादी देश का विदेशी बुद्धिजीवी भी उस रूप को देखकर प्रभावित हुए नहीं रह सका।

न्यूजीलैंड एक सबसे बड़े शहर में जॉन पैदल चल रहे थे। चिन्तित जॉन पैदल चलकर पहुँच गये किताब की दुकानों वाली गली में। कतारों में सजाकर रखी

गयीं पुस्तकों को देखने पर उनकी दृष्टि एक अतिसुन्दर मातृमूर्त्ति चित्रयुक्त पुस्तक पर पड़ी और वे चाहकर भी वहाँ से अपनी दृष्टि हटा न सके। पुस्तक को हाथों से उठाया। वह श्रीमाँ की जीवनी थी। खोलकर, दो-एक पृष्ठ पढ़ना प्रारम्भ किया। आश्चर्य था, जॉन को यह पुस्तक बहुत ही अच्छी लगी एवं उसे खरीद ली। श्रीमाँ के विषय में और अधिक जानने की उत्कण्ठा हुई। उस पुस्तक पर बेलूड़मठ का पता लिखा था। अतः वहाँ पत्र लिखकर श्रीमाँ पर लिखी गयी अन्य पुस्तकों की जानकारी माँगी। कौन जानता है, श्रीमाँ में जॉन ने क्या देखा, जिसके फलस्वरूप उनके बारे में इतना कौतूहल जागा। निश्चित रूप से जॉन को श्रीमाँ का मातृस्नेह प्राप्त हुआ था।

श्रीमाँ के विश्व को मोहित कर देनेवाले दयालु रूप के दर्शन से कब किसकी मनोदशा में परिवर्तन आयेगा—इसे श्रीमाँ ही बता सकती हैं। वे किस प्रकार कितने लोगों के हृदय में अपना स्थान बनाकर करुणा व दया दिखाती हैं, उसे कौन जान सकता है? सचमुच में वे अन्तर्यामिनी हैं। वे सर्वदा हमलोगों पर अपनी करुणा-दृष्टि रखें—मैं उनके चरणों पर नतमस्तक होकर यही विनती करता हूँ।

आधुनिक मानव—शांति की खोज में

स्वामी निखिलेश्वरानन्द
श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट

(स्वामी निखिलेश्वरानन्द श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट में कार्यरत हैं उसी आश्रम से रामकृष्ण भाव-धारा की गुजराती में प्रकाशित एक मात्र मासिक पत्रिका 'रामकृष्ण ज्योत' के सह सम्पादक हैं। उन्होंने विवेकानंद समिति, बीकानेर द्वारा बीकानेर में आयोजित धर्म सभा में ७ दिसम्बर, ९२ को जो भाषण दिया था, वही इस लेख में प्रस्तुत है जिसका टेप से अनुलेखन डॉ० प्रभा भार्गव ने किया है—सं०)

हमेशा ही प्रत्येक मानव की इच्छा रहती है कि वह सुखी रहे, परन्तु सुखी कोई नहीं देखा गया, क्योंकि उसकी इच्छा का स्रोत कभी नहीं टूटता और जब तक इच्छा रहेगी तब तक चंचलता रहेगी ही। जहाँ चंचलता हैं वहाँ सुख कहाँ? "अशान्तस्य कुतः सुखम्।" आधुनिक मानव ने सब कुछ प्राप्त कर लिया यथा सम्पत्ति, आधुनिकतम उपकरण निर्मित किये, आकाश को पार कर लिया कितने ही ग्रह नक्षत्रों में पहुँच गया, सागर तल की गहराई नाप ली, उड़ना और सागर में गोते लगाना सीख लिया परन्तु पृथ्वी पर उसने चलना नहीं सीखा। राबर्ट दी रो अपनी पुस्तक "माइन्ड एण्ड मेडीसन" में एक बहुत अच्छी बात लिखते हैं कि, पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है पर मेडीकल स्टोर में मानसिक शान्ति का पैकेट नहीं मिलता। मानव तनाव भय और चिन्ताओं से ग्रस्त है, आज वह मानसिक शांति की तलाश है। छोटे से लेकर बड़े तक और समाज के प्रत्येक अंग अशान्ति से पीड़ित हैं। एक दूसरी कक्षा में अध्ययनरत १२ वर्षीया बालिका इस वर्ष कक्षा में प्रथम न आने पर तनाव ग्रस्त हैं क्योंकि गत वर्ष वह प्रथम रही थी और अब आगे उसे प्रथम आना है। घर, कार्यालय, व्यापार, शेयर बाजार सभी जगह अशान्ति हैं। सभी शान्ति की तलाश में हैं।

माँ का अन्तिम उपदेश याद आता है—कलकत्ते के उद्बोधन भवन में रोग शैया पर एकदम क्षीण माँ सारदा

दूर दरवाजे पर खड़ी अन्नपूर्णा की माँ को कहती है—माँ का अन्तिम उपदेश मानो विश्व के लिए सबसे महत्वपूर्ण उपदेश—"यदि शान्ति चाहती हो तो किसी का दोष देखना मत, दोष देखना है, तो अपना दोष देखना। इस संसार में कोई पराया नहीं है। सब अपने हैं। सबको अपना बना लेना चाहिए।" माँ शारदा के इन कुछ वाक्यों में वेदान्त का निचोड़ उपलब्ध हो गया। इसमें दो बातें मुख्य हैं, प्रथम यदि मानसिक शान्ति चाहती हो तो दोष किसी का मत देखना, दोष अपना ही देखना। यदि हम अपने जीवन का विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि अशान्ति का एक मात्र कारण दोषारोपण है, सास एवं बहू, मैनेजर एवं मजदूर. मजदूर संघ और कबन्धक, अफसर एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी, शिक्षक एवं विद्यार्थी, बच्चों एवं माता-पिता में परस्पर शिकायत आम बात है। कभी तो लोग सरकार की ही निन्दा करते हैं, पर सरकार बनाई किसने? और कुछ नहीं तो अपने भाग्य को ही लोग कोसते रहते है—"हमारा तो भाग्य ही फूट गया" यहाँ प्रश्न उठता है कि भाग्य बनाया किसने है? वेदान्त दर्शन के अनुसार "तुम स्वयं भाग्य के निर्माता हो, भाग्य और कुछ नहीं प्रारब्ध है जो पूर्व में किये गये कर्मो का फल है। शनि देवता को दोष देने से क्या लाभ? उनके आप पर अप्रसन्न होने का कारण यह है कि अपने पूर्वजन्म में कुछ कर्म खराब किये थे। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि हम अपना दोष देखना प्रारम्भ कर दें तो यह साहस का काम होगा। जो कुछ भी दुःख या कष्ट सह रहे हैं उसके हम जिम्मेदार हैं। अतः दूसरों पर दोषारोपण करना बन्द कर दें तो मानसिक शान्ति अपने आप आयेगी। दूसरे, यह भावना कि भूतकाल मेरे वर्तमान काल के लिए जिम्मेदार हैं जिसका अभिप्राय है कि मेरा भविष्य मेरे वर्तमान द्वारा निर्मित होगा अर्थात् मेरा भविष्य मेरे हाथ में है। वर्तमान में अपने पुरुषार्थ से ऐसा करें ताकि हमारा भविष्य, भाग्य, प्रारब्ध अच्छा होगा।

पुरुषार्थ से ही ईश्वर की कृपा होती है। एक बार एक भक्त ने स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज से कहा कि आप तो श्री रामकृष्ण के पार्षद है मेरे सिर पर हाथ फेर देंगे तो मेरी मुक्ति हो जायेगी। उन्होंने कहा कि "अभी मैं अभी खाना खा लेता हूँ, उसके बाद तुम्हारे सिर पर हाथ फेर दूँगा, तुम्हारा पेट भी भर जायेगा, तुम खाना मत खाना, मेरे खाने से तुम्हारा पेट भर जायेगा," तो वह बोला—"यह कैसे सम्भव है?" दूसरे के खाने से हमारा पेट नहीं भर सकता उसी प्रकार साधना भी हमें ही करनी होगी। यदि हमें आध्यात्मिक उन्नति करनी है तो पुरुषार्थमय होना पड़ेगा। पुरुषार्थ के फलस्वरूप ही भगवान की प्राप्ति होगी। यदि हम अपने जीवन का समय-समय पर विश्लेषण करें तो समय के अपव्यय से बच सकते हैं। प्रायः हम सुबह से शाम तक आलोचना ही करते रहते हैं। प्रातःकाल सामाचार पत्र उठाते और पढ़ते ही सरकार की नीति, कार्यक्रम की आलोचना करने लगते हैं, संस्थाओं एवं विद्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार की या व्यापारियों के मिलावट कृत्यों की आलोचना करते हैं। हम निन्दा में संलग्न रहते हुये अपना अधिकांश समय व्यतीत कर देते हैं जिसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। व्यावहारिक जगत में बड़ी हानी होती है और यह आदत बन जाये तो रात दिन इसका कुपरिणाम भोगना पड़ता है। निन्दा से कुछ तात्कालिक लाभ भले ही दिखे पर उसकी विष-बेला में घृणा, द्वेष और बैर विरोध के ही कटीले फूल लगते हैं। परिणामतः आत्मोन्नति चाहने वालों की सारी प्रगति ठप्प हो जाती है। इस प्रकार दूसरों का दोष देखने से समय की बर्बादी, मानसिक तनाव अशान्ति प्राप्त हुई। पर सरकार, व्यापारी, डाक्टर, इन्जीनियर तो वैसे के वैसे ही रहते है, कोई हमारी सुनता नहीं लाभ में यही हुआ कि अशान्ति के कारण अतिरिक्त दवाई लेनी पड़ी।

माँ शारदा दूसरा व्यावहारिक सुझाव देती है और ज्ञान देती है कि इस जगत में कोई पराया नहीं है सब अपने हैं यह विचार वेदान्त की अत्यन्त उच्च भूमिका से लिया गया है। वेदान्त के मुख्य दो सिद्धान्त हैं पहला यह कि प्रत्येक व्यक्ति में दिव्य आत्मा है, "एषः सर्वेषु

भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः।" कठोपनिषद् के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर आत्मा है। पर वह दिखती नहीं तो उसका प्रमाण क्या है? ऐसा भी नहीं है, किसी किसी ने इसका दर्शन भी किया है। जिसकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म हैं उन लोगों ने इसके दर्शन किये—आत्म साक्षात्कार किया है। दूसरा सार्वभौमिकता का सिद्धान्त है। तार्किक दृष्टि से क्या दो अनन्त एक विश्व में सम्भव है? अनन्त दो नहीं हो सकते—"एकमवाद्वितीयम्" यह ब्रह्म कैसा है यह आत्मा या ब्रह्म अनन्त हैं अतः एक ही हो सकता है तो फिर यह मेरी आत्मा-तुम्हारी आत्मा, इनकी आत्मा, सबकी आत्मा की अलग-अलग बात क्यों की जाती है? वह व्यवहार में कहने की है। यर्थाथ में उसका स्वरूप अनन्त होने के कारण मेरी आत्मा तुम्हारी आत्मा एक ही हैं। अतः हम सब एक हैं। एव तात्विक दृष्टि से हम सब एक हैं। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म।' 'सर्वत्रः पाणिपादं तत् सर्वतः शिशिरोमुखम्। सर्वत्रः श्रुतिमल्लो के सर्वमानृत्य तिष्ठति।' सभी जगह तुम्हारे पैर हैं, हाथ हैं, सभी जगह तुम हो तुम हो।" 'जो कुछ है सो तू ही हैं।' प्रायः स्वामी विवेकानन्द गीत गाया करते थे जिसे श्री रामकृष्ण बहुत पसन्द करते थे'—तुझसे हमने दिल को लगाया जो कुछ है सो तू ही है। एक तुझको अपना पाया जो कुछ दे सो तु ही है। सोचा, समझा, देखा-भाला तुझ जैसा कोई न ढूंढ़ निकाला अब यह समझ में जाकर की आया, जो कुछ है सो तू ही है।' सब कुछ तू ही है। वही ब्रह्म सब जगह विद्यमान है है मुझमें सब में राम समाया। यह है वेदान्त की पराकाष्ठा।

माँ शारदा कहती थी कि किसी भी जाति का पुरुष या स्त्री हो, धनवान या दरिद्र हो प्रत्येक के भीतर वही एक आत्मा है उन्होंने तो अपने जीवन में यह सब आचरित किया। उनके लिए सब अपने थे। शारदा देवी का श्री रामकृष्ण के साथ विवाह हो गया किन्तु वे दोनों पवित्र एवं दिव्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। शारदा देवी की माँ श्रीमति श्यामा सुन्दरी देवी क्षोभ से भरी एक दिन बोली कि मेरी बेटी का विवाह ऐसे पागल से हुआ जो संसार करेगा नहीं और मेरी बेटी को माँ कहने वाला कोई नहीं होगा। श्री रामकृष्ण ने यह बात सुन ली तो कहने लगे, "सास माँ, चिन्ता न करो, तुम्हारी बेटी को इतने लोग माँ माँ कहने वाले होंगे कि कान ही जल जायेंगे" और ठीक यही हुआ। परमहंस के शिष्य गृहस्थ भक्त, संन्यासी शिष्य स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द साधु नाग महाशय गिरीशचन्द्र घोष सभी तो उन्हें माँ मानने लगे। कई लोगों ने उनसे मन्त्र दीक्षा ली। विदेश से आने वाले शिष्य सिस्टर निवेदिता, मारग्रेट नोबेल, सुश्री मेक्लाउड, श्रीमति ओलिबुल आदि भी माँ की सन्तान बन गयीं। अपने प्रेम एवं वेदान्त की भूमिका से माँ शारदा सबकी माँ बन गयीं।

धर्म-समन्वय की संवाहिका माँ ने कभी भेदभाव नहीं किया। जयरामवाटी के टूटे-फूटे मकान की मरम्मत के लिए उन्होंने मुसलमान डाकु अमजद को रख लिया। गाँव वालों ने नाराजगी जाहिर की तो माँ ने कहा, यहाँ काम देने से उसकी दुष्प्रवृत्तियों पर रोक तो लग जायेगी। तत्कालीन समाज जात-पात, छुआ-छूत, अंध-विश्वास से ग्रस्त था। अमजद जब खाने बैठा तब नलिनी (माँ की भतीजी) दूर से ही उसे रोटी देती रही। तब माँ ने स्वयं उसे परोसा और उसकी जूठी पत्तल उठायी। अब चिल्ला उठी—"माँ तोरी जात चलो जाएगो।" तब माँ ने कहा, "जैसे शरत् (स्वामी शारदानन्द) मेरा लड़का है वैसे अमजद भी मेरा लड़का है।" यह है वेदान्त का उच्चतम भाव-व्यवहार का उत्कृष्ट उदाहरण—इस प्रकार जीवन व्यवहार में अपने पराये का भेद मिट जाने से क्या मानसिक अशान्ति हो सकती है? मजदूर संघ और प्रबन्धकों के बीच सास-बहू के बीच, पति पत्नी के बीच, भाई-भाई के बीच विभिन्न धर्मों के बीच, विभिन्न देशों के बीच झगड़ा मिट सकता है यदि हम जान लें कि हम मूलतः तत्वतः एक है वेदान्त के उपदेश की विश्व को आज सबसे अधिक आवश्यकता है। अतः मानसिक शान्ति के लिए वेदान्त को समझें थोड़ी ज्ञान की चर्चा

करें सद्‌गुणों का अभ्यास करें, साथ ही दूसरी आत्मा के साथ आत्मिक अभिन्नता और विश्व की सार्व-भौमिकता को समझें। भेद बुद्धि कम होने से संघर्ष भी कम होंगे और फिर मन को शान्ति मिलेगी। इसके अतिरिक्त माँ शारदा ने कहा था उस प्रकार सुबह-शाम भगवान का नाम लें, ध्यान करें, और व्याकुल होकर प्रार्थना करें ताकि भगवान हमें पवित्र निष्कलंक मन एवं शान्ति दें।

ध्यान करने से दिन भर के अच्छे बुरे कार्यकलापों का मूल्यांकन करने से आगामी कार्यक्रम के हेतु दिशा निर्देश उपलब्ध होगा और जीवन नौका सही दिशा की ओर अग्रसर होगी। मानसिक शान्ति के लिए तो ध्यान बहुत ही आवश्यक है। आज कल तो इस विषय पर कई गवेषणायें भी हो रही हैं। मानसिक तनाव कम करने, रक्तचाप कम करने, दिल आघात को रोकने के लिए ध्यान एक अपूर्व औषधि सिद्ध हो चुकी है।

अमेरिका से लौटने पर स्वामी विवेकानन्द के पास एक नवयुवक आकर कहने लगा कि बहुत उपायों के बाद भी शान्ति नहीं मिल रही। विभिन्न प्रकार की साधनायें की, ध्यान किया, पर तो भी मन को शान्ति नहीं मिल रही। स्वामीजी के पूछने पर उसने बताया, "मैं कमरे के सब दरवाजे एवं खिड़कियाँ बन्द कर देता हूँ, आवाज रहित वातावरण में आँख बन्द कर मन को खाली करने का प्रयत्न करता हूँ। पर फिर भी शान्ति नहीं मिल रही।" तब स्वामीजी ने कहा,--"वत्स, पहले तो दरवाजे खिड़कियाँ खोल दो, आखें खोलो और पड़ोस में जो गरीब है, भूखे हैं, उन्हें भोजन दो, निरक्षर को साक्षर करो, अवश्य तुम्हें मानसिक शान्ति मिलेगी। वस्तुतः स्वामी ने शान्ति प्राप्ति के लिए "शिव ज्ञान से जीव सेवा" का सरलतम उपाय प्रस्तुत किया।

इसके अतिरिक्त अशान्ति का मुख्य कारण अहंकार है। स्वार्थ परायणता के स्थान पर थोड़ी-थोड़ी निःस्वार्थता आने से ही अहंकार भी शनैः शनैः तिरोहित होने लगता है। रामकृष्ण मठ और मिशन के लिए प्रतीक को स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं तैयार किया। प्रतीक में सांप कुण्डिलिनी शक्ति का प्रतीक है, सूर्य ज्ञान का, और कमल भक्ति का 'परमहंस' परमात्मा का प्रतीक परमहंस परमात्मा की प्राप्ति से ही तो परम शांति की अनुभूति होगी अन्यथा तो अशान्ति ही है। परम पद-परम धाम के लिए, परम शान्ति के लिए ज्ञान, भक्ति, निस्वार्थ सेवा और ध्यान सभी आवश्यक है। इन चारों मार्गों के समन्वय से वहाँ जल्दी ही पहुँच जायेंगे। हममें ये चारों प्रवृतियाँ चारों प्रकार की योग्तायें विद्यमान हैं। काम करने के लिए हाथ, ध्यान करने के लिए मस्तिष्क, ज्ञान चर्चा के लिए बुद्धि, ईश्वर से प्रेम करने के लिए हृदय है। यदि हम चारों (ज्ञान कर्म भक्ति, ध्यान) का हम एक साथ समन्वय करें तो परम शान्ति प्राप्त करना सहज हो जायेगा और तभी जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक हम पहुँच सकेंगे।

●

'भविष्य में क्या होगा, इसकी चिन्ता में जो सर्वदा रहता है, उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिए जिस बात को तू सत्य समझता है, उसे अभी कर डाल; भविष्य में क्या होगा, क्या नहीं होगा इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्य-कता ? तनिक-सा तो जीवन है; यदि इसमें भी किसी कार्य के लाभालाभ का विचार करते रहें तो क्या उस कार्य का होना सम्भव है ? फलाफल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है।......तू इसकी चिन्ता न कर, अपना काम किये जा।"

—स्वामी विवेकानन्द

दीनबन्धु विवेकानन्द

—श्रीब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा
शिक्षा उपाधीक्षक, छपरा (बिहार)

१९०१ ई० के अन्तिम भाग में स्वामीजी की बुद्ध गया-यात्रा से कुछ दिन पूर्व बेलुड़ मठ में एक मर्मस्पर्शी घटना हुई, जिससे दीन दुखियों के प्रति उनकी अपार कृपा की स्मृति रेखा, सेवा व्रती कर्मियों के हृदय में चिर-काल तक अंकित रहेगी।

"मठ की जमीन को साफ करने के लिए प्रतिवर्ष कुछ संथाल स्त्री-पुरुष आते थे। स्वामीजी उनके साथ कभी-कभी हंसी खेल करते थे तथा उनके सुख-दुख की बात बड़े ध्यान से सुनते थे। एक दिन कलकत्ता से विशिष्ट भद्र पुरुष मठ में स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करने आये। स्वामीजी उस दिन संथालों के साथ गप्पें लड़ाने में मस्त थे कि स्वामी सुबोधानन्द ने आकर उन्हें जब-सब व्यक्तियों के आने का समाचार दिया तो वे बोल उठे, 'मैं अब किसी से मिल न सकूंगा, इनके साथ बड़े मजे में हूँ। और वास्तव में उस दिन स्वामीजी उन सब दीन-दुखी संथालों को छोड़ आगन्तुक भद्र महोदयों से मिलने न गये। संथालो में से एक व्यक्ति का नाम था केष्टा। स्वामीजी का केष्टा से बहुत स्नेह था। कभी-कभी जब स्वामीजी उससे बात करने जाते थे तो वह कहता था, 'अरे स्वामी बाप, तू हमारे काम के समय यहाँ न आया कर—तेरे साथ बात करने पर हमारा काम बन्द हो जाता है और बूढ़ा बाबा आकर हमें बकता है'। यह बात सुनकर स्वामीजी की आँखों में आँसू भर आये और वे बोले, 'नहीं नहीं, बूढ़ा बाबा (स्वामी अद्वैतानन्द) नहीं बकेगा, तू अपने देश की बातें बता'। और यह कहकर वे उनके पारिवारिक सुख-दुख की बातें छेड़ देते थे"।

एक दिन स्वामीजी ने केष्टा से कहा—"अरे, तुम लोग हमारे यहाँ खाओगे ?" केष्टा बोला, "हम अब तुम्हारा छुआ नहीं खाते, हमारी शादी हो गई है, तुम लोगों का छुआ नमक खाने पर जात जायेगी बाप।" स्वामीजी बोले, "नमक क्यों खायेगा ? बिना नमक की तरकारी पका देंगे, फिर तो खायेगा न ?" केष्टा इस बात पर राजी हो गया। इसके बाद स्वामीजी के निर्देश से मठ में उन सब संथालों के लिए पूड़ी तरकारी मिठाई- दही आदि का प्रबन्ध किया गया और वे स्वयं बैठकर उन्हें खिलाने लगे। खाते-खाते केष्टा बोला, "अरे स्वामी बाप, तुम्हें ऐसी चीजें कहाँ से मिली—हमने तो कभी ऐसा नहीं खाया"। स्वामीजी उन्हें संतोष पूर्वक खिलाकर बोले, "तुमलोग जो नारायण है।- आज मेरे नारायण का भोग हुआ।" स्वामीजी दरिद्र नारायण की सेवा करने को कहते थे उसे वे इस प्रकार स्वयं करके दिखा गये हैं।

भोजन के बाद जब सन्थालगण आराम करने गये तो स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "इन्हें देखा, मानो साक्षात नारायण हैं—ऐसा सरल भाव—ऐसा निष्कपट सच्चा प्रेम और कभी नहीं देखा था।" बाद में मठ के सन्यासियों को लक्ष्य करके बोले—"देखो ये लोग कैसे सरल हैं। इनका दुःख कुछ दूर कर सकोगे ? नहीं तो गेरुआ वस्त्र पहन कर फिर क्या किया ? दूसरों के हित के लिए सर्वस्व का अर्पण—इसी का तो नाम है वास्तव संन्यास। इन्हें कभी कुछ अच्छा खाद्य पदार्थ प्राप्त ही नहीं हुआ। इच्छा होती है, मठ-फट सब बेचकर इन सब गरीब दुःखी दरिद्र नारायणों में बांट दूं। हमने तो वृक्षतल को ही सहारा बनाया है। अहो, देश के लोगों को खाना नसीब नहीं हो रहा है - हम किस प्राण से मुंह में ग्रास उठा रहे है ? देश के लोगों को

दोनों समय दो दाने अन्न न पाते देख कभी-कभी मन में आता है—छोड़ दूं यह शंख फूंकना और घण्टा हिलाना, छोड़ दूं लिखना पढ़ना तथा स्वयं मुक्त होने की चेष्टा भी—सब लोग मिलकर गांव गांव में घूमकर चरित्र व साधन के बल पर धनियों को समझाकर धन संग्रह कर लाये और दरिद्रनारायणों की सेवा करते हुए हम जीवन बिता दें।—

"अहो देश के गरीब दुखियों के लिए कोई नहीं सोचता है। जो राष्ट्र की रीढ़ की हड्डियां हैं, जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है, जिन मेहतर-भंगियों का एक दिन काम बन्द होने पर शहर में हाहाकार मच जाता जाता है, उनके साथ सहानुभूति करें उनके सुख-दुख में सान्त्वना दे, देश में ऐसा कोई भी नहीं है रे। यह देखो न-मद्रास प्रान्त में हिन्दुओं की सहानभूति न पाकर हजार-हजार पेरिआ ईसाई बनते जा रहे हैं, ऐसा न समझना केवल पेट भरने के लिए ही इसाई बनते है; बल्कि हमारी सहानुभूति नहीं मिल पाते इसलिए ईसाई बन रहे हैं। हम दिन रात केवल उसे कहते हैं, "मत छुओ, मत छुओ देश में क्या और दया धर्म है रे बाबा? केवल छुआछूत वालों का दल - ऐसे आचार के मुंह पर झाड़ू मार—लात मार। इच्छा होती है—तुम्हारी छुआछूत की सीमा को तोड़ अभी निकल जाऊं 'कौन कहां पतित है, दुखी, दीन, निर्धन कौन कहां हों यह कहकर उन सभी को श्रीरामकृष्णदेव के नाम पर बुला लाऊं इनके उठे बिना माँ न जागेगी। हम यदि इनके अन्न वस्त्र की व्यवस्था न कर सके तो फिर किया क्या! हा ये दुनियादारी कुछ भी नहीं जानते, इसलिए रात दिन मेहनत करके भी अन्न वस्त्र की व्यवस्था नहीं कर सक रहे हैं। आओ, सब मिलकर इनको आंखें खोल दें—मैं दिव्यदृष्टि से देख रहा हूं इनमें और मुझमें एक ही ब्रह्म, एक ही शक्ति मौजूद है—केवल विकास की ही न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी कहीं पर उठते देखा है? निश्चित जानना कि एक भी अंग के बिगड़ जाने पर-अन्य सब अंग भले ही सबल रहे, शरीर किसी काम का नहीं रहता।"

स्वामीजी अपने कर्मजीवन में इस अथक सेवाव्रत को वास्तव रूप दे सके थे, इसलिए तो आज उनके आवेगपूर्ण आह्वान से राष्ट्र जाग्रत हुआ है। इसीलिए तो आज 'भीरु बंगाली अपनी सदियों की दुर्बलता को फेंककर दुर्भिक्ष, बाढ़, प्लेग, महामारी के साथ संग्राम कर रहे हैं—और आगामी युग का वह दिन भी निकट जान पड़ रहा है जब इसी महापुरुष के ईप्सित सेवाव्रत धारी शूरवीर-गण आविर्भूत होकर स्वदेश के मुख को उज्जवल करेंगे।

विवेकानन्द चरित

पृ० सं० ५२८,--५३१

सब कुछ भगवान् को समर्पित कर दो, स्वयं को भी समर्पित कर दो। ऐसा करने पर फिर तकलीफ नहीं रह जायगी। तब तुम देख पाओगे कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है।

—श्रीरामकृष्ण देव

प्रतिवाद करो

स्वामी विवेकानन्द

प्रायः वर्षों पहले की बात है। तब प्रत्येक भारतीय अंग्रेज साहबों को उच्च दृष्टि से देखता था। प्रतिवाद तो दूर, वे साहबों के हर अन्याय, अविचार, अपमान को शीश नवाकर नाम लेते थे मानो यही उनकी नियति हो।

स्वामी विवेकानन्द तब भी अमेरिका नहीं गये थे, उनकी ख्याति उतनी न फैली थी। अमेरिका जाने के बारे में मात्र बातचीत हो रही थी। बम्बई के रास्ते में आबू रोड स्टेशन पर स्वामीजी गाड़ी में बैठे। उनके एक परिचित सज्जन के साथ बैठकर बातें करने लगे।

इसी समय चेकर उस डब्बे में आया। वह अंग्रेज था। स्वामीजी का टिकट देखने के बाद उसने उस सज्जन से टिकट माँगा। उन्होंने कहा, "मुझे जाना नहीं है, स्वामीजी जा रहे हैं। गाड़ी खुलने तक मैं उनके साथ वार्तालाप कर रहा हूं।"

साहब ने कहा, "रेल के कानून के अनुसार मैं इस प्रकार किसी को रहने नहीं दूंगा।"

सज्जन ने कहा, "मैं भी रेल का कर्मचारी हूं। रेल के कानूनों को मैं खूब जानता हूं। ऐसा कोई कानून नहीं है कि मुझे डब्बे से उतर जाना पड़े।"

इस जवाब से चेकर आग-बबूला हो उठा। वह उस सज्जन को डब्बे से उतारने पर अड़ गया था और वह व्यक्ति भी नहीं उतरने पर अडिग था। दोनों में झगड़ा होने लगा। स्वामीजी ने तब उस सज्जन को बंगला में कहा, "झगड़ा करने से कोई फायदा नहीं। रुक जाओ।"

चेकर तो बंगला नहीं जानता था। उसने सोचा स्वामीजी से झगड़ा करने के लिए उसे उत्साहित कर रहे हैं। गेरुआ वस्त्र धारण किए हुए हजारों संन्यासी उसने देखे थे। गाली गलौज तो दूर वे तो लात खाने पर भी प्रतिवाद नहीं करते। गुस्से में आकर उसने कहा, "तुम क्यों बात करते हो?"

चेकर के इस अभद्र आचरण पर स्वामीजी ने आंखे लाल कर अंग्रेजी में कहना शुरू किया, "तुम-तुम" किसे कह रहे हो? "आप नहीं कह सकते? प्रथम व द्वितीय श्रेणी के यात्रियों के साथ बात कर रहे हो, परन्तु यह नहीं पता कि कैसे बात की जाती है?"

स्वामीजी के मुख से अंग्रेजी सुन और उनके रक्तवर्ण चक्षुओं को देख चेकर घबरा गया। उसने कहा, "अपनी भ्रष्ट भाषा पर मैं दुःखित हूं। हिन्दी मुझे नहीं आती। मैं आपको कुछ कहना भी नहीं चाहता था। इस आदमी के साथ ही मैं बात कर रहा था।"

साहब उस वक्त अंग्रेजी में कह रहे थे। परन्तु इससे स्वामीजी और क्रोधित हो गए। उन्होंने कहा, "तुम तो बड़े असभ्य हो।" "यह आदमी" का तात्पर्य क्या है? तुमने पहले कहा कि तुम्हें अच्छी हिन्दी नहीं आती। अब तो यह भी स्पष्ट हो गया कि तुम्हें अपनी भाषा भी नहीं आती। तुमने इस सज्जन को "आदमी" कहकर संबोधित क्यों किया?"

इतने देर तक तो साहब का मुख क्रोध की गरिमा से अरुणाभ था। परन्तु वही लाल मुख सफेद पड़ गया। उसकी अवस्था दयनीय थी।

स्वामीजी ने कहा, "अपना नाम और पद मुझे बताओ। तुम्हारे असभ्य आचरण पर मैं ऊपर लिखूँगा।"

इधर गोलमाल सुनकर सभी स्टेशन के लोग वहाँ जमा हो गए और एक अपरिचित संन्यासी के हाथों इस अंग्रेज की दुर्गति पर मन ही मन खुश होने लगे। साहब के मुख से तो स्वर ही छिन गया था।

स्वामीजी ने फिर कहा, "अपना नाम बताने का साहस यदि न हो तो अपने बचे-खुचे सम्मान को ले यहाँ से भागो। और जनता को यह दिखा दो कि तुम कितने कायर हो।"

चेकर ने देखा अब पीछे हटना ही ठीक रहेगा एवं उसने वही किया।

इस घटना पर स्वामीजी ने कहा था, "शिक्षा एवं सभ्यता में भारतीय किसी भी जाति से छोटे नहीं हैं। परन्तु भारतीय स्वयं को छोटा बना विदेशियों के कटु वचनों एवं लातों को सह लेते हैं।"

इसी संदर्भ में एक और घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। स्वामीजी तब निखिल विश्व में अपनी ख्याति फैला अमरीका से स्वदेश लौट रहे थे। उनके साथ अमेरिका और यूरोप के कुछ व्यक्ति भी आ रहे थे। जब जहाज ने एडन बंदरगाह छोड़ा तो कोलम्बो पहुँचने में अधिक देर न थी। स्वामीजी बड़े खुश थे। उनके साथी भी बड़े खुश थे। स्वामीजी को अकेला पाने पर दो अंग्रेज मिलकर उन्हें परेशान करते थे तथा भारत व भारतीयों की निन्दा करते थे। उनके कथन में विशेष तर्क न होने के कारण स्वामीजी उनकी बातों को सुनते ही न थे।

एक दिन अवसर पाकर वे दोनों स्वामीजी के पास उपद्रव मचाने लगे। स्वामीजी ने विक्षुब्ध होकर कहा, "अब शरीर-बल से काम न चलेगा। सही तर्क एवं युक्ति पर आओ। तुम्हारी गालियों में क्या तर्क है मुझे बताओ।"

उन्होंने उन अंग्रेजों से कुछ प्रश्न किए। किसी के भी वे उत्तर न दे पाए। तब विक्षिप्त होकर वे भारत एवं भारतवासियों को अशिष्ट गालियाँ देना शुरू कर दिए। ठीक तरह से स्वामीजी जितना समझाना चाहते वे और गालियाँ देते।

तब स्वामीजी ने उठकर एक की टाई पकड़कर गंभीर स्वर में कहा, "मैं तुम्हें सावधान करता हूँ। अगर दुबारा मुँह से अपशब्द निकाले तो इसी सागर में फेंक दूँगा।"

स्वामीजी के हाथों का सशक्त स्पर्श एवं लाल आँखों को देख वह अंग्रेज सकपका कर काँपने लगा। इतने में उसका साथी गायब हो चुका था।

विवेकानन्द ने पूछा, "होगी दुबारा यह गलती?"

उसने कहा, "नहीं महाशय, अब कभी यह गलती नहीं होगी।"

स्वामीजी ने उसे छोड़ दिया। उसके पश्चात् जितने दिनों तक वे जहाज पर थे, किसी ने उन्हें परेशान नहीं किया। उल्टे वे दोनों साहब आकर उनका हाल पूछते।

कलकत्ता वापस आकर स्वामीजी ने प्रियनाथ सिंह नामक एक परिचित व्यक्ति से पूछा, "अच्छा ! बोलो तो, यदि कोई तुम्हारी मातृभूमि एवं माता का अपमान करे तो तुम क्या करोगे?"

उसने कहा, "उसकी गर्दन मरोड़ कर उचित शिक्षा दे दूँगा।"

इस प्रकार का प्रतिवादी जवाब सुनकर खूब खुश हुए थे, स्वामी जी।